साहित्य-संदर्भ

सपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का अठहत्तरवाँ पुष्प

साहित्य-संदर्भ

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

गगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

सजिल्द २)] सं० १९८९ [सादी १॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

वक्तव्य

पिछले तीन-चार वर्षों में हमारे साहित्य-विषयक जो लेख प्रकाशित हुए हैं उन्ही का यह संग्रह है। इनमे से अर्द्धाधिक लेख समालोचनात्मक है। अवशिष्ट लेखों मे, दो-तीन को छोड कर, संस्कृत-भाषा में निबद्ध-प्राचीन काव्यादि के महत्त्वपूर्ण अंशो पर लेखक ने अपने विचार प्रकट किये हैं और उनके नमूने भी, सानुवाद, उद्धृत किये हैं। अन्य लेख भी ज्ञातव्य बातों से रिक्त नहीं; और कुछ नही तो उनमें मनोरंजन की सामग्री, थोड़ी बहुत, अवश्य ही है। इस संग्रह के प्रायः सभी लेखों का संबंध पुरातन पुस्तकों और पुरातन विषयों से है। पुराने होने के कारण ही उनमे परिचित होने—विस्मृति के गर्त से निकाल कर उन्हे स्मृति-पथ पर लाने—की आवश्यकता है। इस दृष्टि से, पुराने होने पर भी वे नई-नई बातों के प्रेमियों की भी अनुरक्ति के पात्र हो सकते हैं। मासिक पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े रहने की अपेक्षा लेखों का संग्रह, पुस्तक-रूप में, एकत्र हो जाने से वह सुलभ भी हो जाता है और यदि उसमें व्यक्त किये गये विचारो मे कुछ सार है तो पढ़नेवाले उससे चिरकाल तक लाभ भी उठा सकते हैं।

कुछ समालोचकों का मत है कि संग्रह-पुस्तकों के लेख जिन-जिन पत्रो या पुस्तकों मे पहले प्रकाशित हुए हों उन सबका नाम दे देना चाहिए। हमारा मत ऐसा नही। यदि किसी दूसरे का लेख कहीं से उद्धृत किया जाय तो उस बात का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। परंतु अपने ही लेखों के विषय मे ऐसे उल्लेख की आवश्यकता क्यों? अपनी वस्तु चाहे जहाँ पडी हो उसे उठा कर अपने

पास रखने अथवा किसी स्थल-विशेष से उसे संचित करने का पूर्णाधिकार उसके स्वामी को है ; वह उसे कहाँ से लाया, कब लाया और किस तरह उसका उपार्जन किया, यह सब बताने के लिए वह कर्तव्य-बद्ध नहीं। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर के लेख, कवितायें, उपन्यास और कहानियाँ भिन्न-भिन्न मासिक पुस्तकों और पत्रों में निकला ही करती हैं। वही पीछे से पुस्तकाकार प्रकाशित होती हैं। बताइए, उनमें से कितनी पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें उन सब मासिक पत्र आदि के उल्लेख हैं जिनमें वे सर्वांश या अल्पांश में, समय-समय पर पहले प्रकाशित हुई थीं? अस्तु। समालोचकों के अभिवांछित उल्लेख से हमारी कोई हानि भी नहीं—हमारा संबंध "सरस्वती" से होने के कारण इस संग्रह के लेखों की अधिक संख्या उसी में प्रकाशित हो चुकी है।

इसके दो लेख—नंबर ११ और १३—सोऽहं शर्मा के लिखे हुए हैं। नंबर १४ श्रीकंठ पाठक की और नंबर १५ विनायक विश्वनाथ की रचना है। इन लोगों की अनुमति से ये चारों लेख इस संग्रह में सम्मिलित हुए हैं। उन्हे अभिन्नात्मा समझ कर ऐसा किया गया है।

दौलतपुर, रायबरेली
२३ दिसंबर, १९२४

महावीरप्रसाद द्विवेदी

लेख-सूची

साहित्य-संदर्भ

कालिदास का स्थिति-काल

राव-बहादुर चिंतामणि वैद्य, एम्० ए० संस्कृत-भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं। पुरानी बातों के अनुसंधान में भी आपका जी ख़ूब लगता है। नये-नये रहस्यों के उद्‌घाटन मे आप बड़े पटु हैं। आपकी राय है कि कालिदास ईसवी सन् के पहले विद्यमान थे। अपने इस अनुमान की पुष्टि में आपने, आज तक, अनेक लेख लिख डाले हैं। अपने पक्ष के समर्थक प्रमाण भी आपने ख़ूब दिये है। तथापि कालिदास को अब तक अनेक पुरातत्त्वज्ञ गुप्त-नरेशों का समकालीन ही बताते चले आ रहे हैं। अर्थात् वे कहते हैं कि ईसवी सन् के आरंभ होने के चार-पाँच सौ वर्ष बाद कालिदास का आविर्भाव हुआ था। कालिदास उतने पुराने नही जितने साधारण जन उन्हें समझते हैं। वे लोग कालिदास को विक्रमादित्य का सभा-पंडित समझते हैं और कहते हैं कि विक्रमादित्य ईसा के ५६ वर्ष पहले विद्यमान थे; क्योंकि उनके चलाये हुए संवत् के अनुसार उन्हें हुए १९७७ वर्ष हो चुके। लोगों के इसी विश्वास पर पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् कुठाराघात करते हैं। उनका यह आक्रमण वैद्य महाशय को सह्य नही। अतएव उन्होंने अब ऐसे विद्वानों पर एक बार फिर धावा बोल दिया है। उनका यह धावा उनके एक लेख के रूप मे हुआ है। पूने मे सर रामकृष्ण भांडारकर की संस्थापित जो गवेषणा-समिति है उसके जर्नल की दूसरी जिल्द के पहले खंड में वैद्य महोदय का वह लेख निकला है। उसका आशय सुनिए—

रघुवंश के छठे सर्ग में इंदुमती के स्वयवर का वर्णन है। सुनंदा नाम की एक परिचारिका या प्रतिहारी इंदुमती को भिन्न-भिन्न राजों के पास ले गई है और उनके गुण वर्णन किये हैं। हर राजा की प्रशंसा करके उसने इंदुमती से कहा है कि तू पसंद करे तो इसी के साथ विवाह कर ले। पहले कालिदास इंदुमती को मगध-नरेश के पास ले गये हैं, फिर अंग-नरेश के पास, फिर अवंतिनाथ के पास, फिर माहिष्मती के राजा प्रतीप के पास, फिर शूरसेनाधिप सुषेण के पास, फिर कलिंग-नरेश के पास, तदनंतर उरगपुर के राजा पांड्य-नरेश के पास। यथा—

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टा निजगाद भोज्याम् ॥ ५९ ॥
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः स निर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥

कलिंग-देश के वर्णन में लवंग-लताओं और ताली-वनों का वर्णन करके कालिदास ने उरगपुर के राजा के पास इंदुमती को पहुँचाया है। सो यह उरगपुर वर्तमान नागपुर नहीं, जैसा कि कुछ लोग समझते आये हैं। इसकी पुष्टि में और प्रमाण भी दिये गये हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कलिंग के आगे कालिदास ने दक्षिण ही के नरेशों का वर्णन किया है। शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों आदि के आधार पर प्राचीन वस्तुओं के प्रेमियों ने यह प्रमाणित किया है कि कावेरी-नदी के किनारे बसे हुए प्राचीन उरगपुर ही का अपभ्रंश उराइयूर है। यह वही नगर है जहाँ पांड्यों की प्राचीन राजधानी थी। ईसवी सन् के पहले पांड्यों ही का आधिपत्य यहाँ था। ईसा की पहली शताब्दी में चोल देश के राजा करिकाल ने पांड्यों का पराभव करके उनका राज्य छीना था। यह पराभव हो चुकने पर, इसके कोई ३०० वर्ष बाद, पांड्यों ने फिर अपनी राज्यश्री प्राप्त

की। पर उरगपुर में नहीं, मधुरा या मडयूरा में अपनी राजधानी नियत की। इसके अनंतर ईसा की पाँचवीं या छठी शताब्दी में पल्लव-नरेशों ने पांड्यों का फिर उन्मूलन कर दिया। इन बातों के ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं; यह कपोल-कल्पना नहीं।

अच्छा तो यदि कालिदास ईसा की चौथी या पाँचवीं सदी में विद्यमान थे तो पांड्यों की पिछली राजधानी मडयूरा का नाम न देकर उरगपुर का उल्लेख उन्होंने क्यों किया? उस ज़माने में उरग-पुर में तो राजधानी थी ही नहीं। उसका नाम तक शायद लोग भूल गये होंगे। बेचारे मल्लिनाथ तक को उसकी ख़बर न थी। होती तो पांड्य देश की राजधानी को वे नागपुर क्यों कहते और उसे "कान्यकुब्जतीरवर्ती" क्यों बताते। यदि किसी को नाम याद भी रहा होगा तो कुछ ही लोगों को। आजकल के भी पुराण-प्रेमियों ने बड़ी कठिनाई से इसका पता लगा पाया है कि उराइयूर के ध्वंसावशेष ही पुराना उरगपुर है। अतएव यह मान लेना पड़ेगा कि कालिदास के समय में उरगपुर आबाद था; पांड्यों की राज-धानी वहीं थी। और, चूँकि पांड्यों का पहला पराभव ईसा की पहली शताब्दी में हुआ था। इसलिये कालिदास ज़रूर उसके पहले के हैं।

दक्षिण में एक जगह गदवल है। वहाँ कल्याणनगर के चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य के कुछ ताम्रपत्र मिले हैं। उनमें लिखा है कि चालुक्यों के राजा की सेना कावेरी-नदी के तट पर स्थित उरगपुर में ठहरी थी। उस समय उरगपुर चोल देश के राजा के राज्य में था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उरगपुर का अस्तित्व तब तक था। उसकी वह पहले की उन्नतावस्था तो ज़रूर ही नष्ट हो चुकी होगी; पर अस्तित्व नष्ट न हुआ था। वह उस समय उजड़ी या बरबाद हालत में रहा होगा।

कालिदास ने रघुवंश में दक्षिण-प्रांत और दक्षिण के नरेशों का जो वर्णन किया है वह, उस समय के अनुसार, बहुत ठीक मालूम होता है। कलिंग-देश भी उस समय ऊर्जित दशा में था और वहाँ का राजा भी बड़ा पराक्रमी था। कलिंग-राज्य का समीपवर्ती और समकक्ष राज्य उस समय पांड्यों ही का था। इसी से कलिंगनाथ का वर्णन कर चुकने पर कालिदास ने—"पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्ब-हारः" आदि कहकर पांड्य-पति का वर्णन आरंभ कर दिया है। अतएव उनका अभिप्राय पुराने पांड्यराज्य ही से जान पड़ता है।

एक बात और भी इस अनुमान की पुष्टि करती है। कालिदास ने रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है। पहले वे रघु को पूर्व की ओर ले गये हैं, फिर दक्षिण की ओर, फिर पश्चिम की ओर। उन्होंने लिखा है कि पूर्व में सुंग, वंग और उत्कल देशों को जीतकर रघु कलिंग-देश में जा पहुँचा। और कलिंग-कांत का पराभव करके समुद्र के किनारे-ही-किनारे आगे बढ़ा। कुछ दूर चलकर उसने कावेरी-नदी को पार किया—

कावेरीं सरितांपत्यु· शङ्कनीयामिवाकरोत्।

फिर मलयाचल की उपत्यका को पार करके वह पांड्य-देश में जा पहुँचा—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ;
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे।

यहाँवालों से मोतियों के ढेर-के-ढेर कर लेकर उसने केरल-देश जीतने के लिए प्रस्थान किया। वहाँ से अपरांत-देश को जाकर पश्चिमदिग्वासी पारसीकों के पराजय के लिए उसने अपनी सेना का संचालन कर दिया।

अब देखिए, यहाँ भी, कलिंग-देश के बाद पांड्य-देश ही का वर्णन कालिदास ने किया है और दक्षिण में पांड्य और केरल को

छोडकर और किसी देश का उल्लेख नही किया। चोलों और पल्लवों का नाम तक उन्होंने नहीं लिया। अब सोचने की बात है कि यदि उनके समय में, या उससे कुछ पहले, उस प्रांत में चोल, पल्लव या और किसी प्रतिष्ठित देश, प्रांत या राजा का अस्तित्व होता तो वे उसका भी अवश्य ही स्मरण करते। इस दशा में यदि यह अनुमान किया जाय कि कालिदास ईसवी सन् की स्थापना के पहले ही, उस समय विद्यमान थे जब प्रतापी पांड्यों की राजधानी उरगपुर में थी तो ऐसे अनुमान को निराधार नहीं कह सकते। यदि ऐसा अनुमान प्रमाण की कोटि के अंतर्गत नहीं आ सकता तो कालिदास के स्थिति-काल के विषय में और जो अनेक अनुमान लडाये गये हैं उनकी अपेक्षा तो इसे अधिक ही साधार समझना चाहिए।

अनेक इतिहास-वेत्ताओं की राय है कि सन् ईसवी के सौ-पचास वर्ष पहले यवनों का संपर्क भारत से अवश्य था; पर सन् ईसवी की पाँचवी शताब्दी में न था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो वैद्य महाशय की उद्भावना को और भी अधिक बल प्राप्त होता है; क्योंकि कालिदास ने 'यवन' और 'यवनी' शब्दों का प्रयोग किया है। पाँचवीं सदी ईसवी में यदि कालिदास हुए होते तो वे इन शब्दों का प्रयोग न करते, क्योंकि उस समय भारत में यवनों का तो अस्तित्व ही न था। इससे भी सूचित होता है कि वे पाँचवीं सदी के पाँच-छः सौ वर्ष पहले ही विद्यमान थे।

किसी-किसी का विचार है कि पांड्यों की पिछली राजधानी मधुरा या मड्यूरा भी किसी समय उरगपुर के नाम से ख्यात थी। यदि इसकी पुष्टि में कोई शिलालेख, ताम्रपत्र या और किसी प्राचीन पुस्तक में कोई प्रमाण मिल जाय तो अलबत्ते वैद्य महाशय की तर्कणा की बनी-बनाई इमारत को ढह जाते देर न लगे। तब यह प्रमाण सिद्ध-सा समझा जायगा कि कालिदास के उरगपुर से मत-

तब मडूरा से था, जहाँ ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी में पाड्यों की राजधानी की स्थापना हुई थी।

ख़ैर, तब तक ऊपर दिये गये कोटिक्रम पर पाठक विचार करें और देखें कि विद्वद्वर चिंतामणिजी की कल्पना कहाँ तक साधार और युक्ति-संगत है।

फ़रवरी, १९२१

श्रीहर्ष का कलियुग

(१)

नैपध-चरित-नामक महाकाव्य की रचना करनेवाले श्रीहर्ष को हुए कम-से-कम ८०० वर्ष हो गये। वे क़न्नौज-नरेश जयचंद के समय में विद्यमान थे। महाविद्वान् थे। सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। योगी भी थे। उन्होंने ख़ुद ही लिखा है—

य साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्।

नैपध-चरित के सत्रहवें सर्ग में उन्होंने, प्रसंग-वश, कलियुग का वर्णन किया है। कलजुगी आदमी कैसे होने चाहिए या उस ज़माने में कैसे थे, यह बात उनके इस वर्णन में ख़ूब देखने को मिलती है। ऐसे मनुष्य श्रुतियों, स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों के वचनों पर कैसे-कैसे आक्षेप कर सकते हैं, और उनके विरोधी आस्तिक जन उन आक्षेपों के उत्तर में कैसी-कैसी दलीलें पेश कर सकते हैं, यह भी श्रीहर्ष के वर्णन से अच्छी तरह जाना जा सकता है। उन आक्षेपों, और आक्षेपों के उन उत्तरों, में किसका पक्ष प्रबल और किसका निर्बल है, इसका भी अनुमान श्रीहर्ष की उक्तियों से किया जा सकता है। इस महाकवि की इस कलियुग-वर्णना से एक बात और भी बड़े मार्के की मालूम हो सकती है। वेदों में बहुत पुराने ज़माने की कुछ रूढ़ियों का उल्लेख है। वे रूढ़ियाँ उस समय रायज थीं। जन-समुदाय उन्हें सुदृष्टि से देखता था। आजकल वे कुदृष्टि से देखी जाती हैं। इसी से आजकल के कुछ नये वेदज्ञ उनका अर्थ उस समय के समाज के अनुसार करके अपनी विद्वत्ता और वेदज्ञता प्रकट करते हैं। पांडित्य और वेदज्ञान में वे शायद अपने को श्रीहर्ष से भी सौगुना अधिक समझते

होंगे। वेदों का ठीक अर्थ समझने में चाहे श्रीहर्ष अधिक हों, चाहे आजकल के वेदपाठी विद्वान्, इस झगड़े से मतलब नहीं। श्रीहर्ष के वर्णन से हम यदि इतना ही जान सकें कि वे वेद के कुछ संशयास्पद स्थलों का क्या अर्थ समझते थे, तो पुराने वेद-व्याख्याताओं की संख्या में एक की और वृद्धि हो जाय।

अच्छा तो अब, आगे, श्रीहर्ष ही की कही हुई बातें सुनिए। उन्हें हम संक्षेप ही में सुनावेंगे। श्रीहर्ष की उक्तियों का सारांश-मात्र दे देंगे—कहीं कम, कहीं कुछ अधिक—जहाँ जैसी आवश्यकता होगी।

(२)

अपनी प्राप्ति के अन्य सभी अभिलाषियों को निराश करके दमयंती ने, भरे स्वयंवर में, निषध-नरेश नल के कंठ में वरणमाला डाल दी। तब उसी के साथ उसका विवाह हो गया। दमयंती को लेकर नल अपने घर चला गया। अन्य नर, सुर, नाग, किन्नर, गंधर्व आदि भी, जो स्वयंवर में आये थे, सब अपना-अपना-सा मुँह लेकर लौट गये। इंद्र, वरुण, यम, कुवेर—ये चारों देवता दिक्पाल कहाते हैं। ये अपनी-अपनी दिशा के स्वामी हैं। इन्होंने दमयंती को पाने की चेष्टा सबसे अधिक की थी; माया तक रची थी। पर दमयंती के सतीत्व के सामने इनकी कुछ भी न चली। पीछे से इन्हें प्रसन्न होकर अपनी माया का संवरण करना पड़ा और नल-दमयंती को वर भी देना पड़ा। ये लोग सबके पीछे स्वयंवर से रवाना हुए। इनके साथ सरस्वती भी चली। स्वयंवर में आये हुए नरेशादि का गुण-वर्णन करने के लिए आप तशरीफ़ लाई थीं। सागर के कल्लोल जैसे तट तक व्यर्थ ही आकर फिर लौट जाते हैं, वैसे ही ये चारों दिक्पाल भी स्वयंवर में आने का व्यर्थ श्रम उठाकर लौट चले। परंतु दमयंती को न पाने का दुःख इन्हें न हुआ। इन्होंने सोचा, नल

पर दमयंती चिरकाल से आसक्त थी। नल था भी उसके सर्वथा योग्य। इस कारण हम लोगों को असंतुष्ट न होना चाहिए। विनीत शिष्य को विद्या का दान देने से गुरु को विषाद थोड़े ही होता है; उसे तो उलटा हर्ष होता है। अतएव नल-जैसे विनीत और सर्वगुण-संपन्न राजशिरोमणि को यदि हम लोगों की कृपा से दमयंती मिल गई, तो अप्रसन्न होने की कोई बात नहीं। नल तो हम लोगों का परम भक्त है।

इस तरह मन में सोचकर सरस्वती-सहित वे चारों देवता चल दिये। विमान इन लोगों के बड़े वेगगामी थे। वे हवा से बातें करते थे। उनके वेग से वायु बड़े ज़ोर से फटती चली जाती थी। वायु के झोकों से दूर-दूर तक के बादल खिंच आते थे। विमानों की ध्वजाओं के अग्रभागों के घुस जाने से कहीं-कहीं बादल विदीर्ण हो जाते थे। इस कारण बिजली चमकने लगती थी और ऐसा मालूम होता था कि विमानों के ऊपर पीली-पीली पताकायें फहरा रही हैं। इंद्र के रथ से उसका धनुष लटक रहा था। उधर बादलों की दौड़ आकाश में हो ही रही थी। जो बादल रथ के पास आ जाता, इंद्र का धनुष उसका आभूषण-सा बन जाता था। यम की गदा रथ पर रक्खी थी। उसका ऊपरी सिरा ऊपर को उठा था। वह सूर्य्य को छू-छू लेता था। ऐसे समय सूर्य्य सफेद रंग का छत्र-सा बन जाता था और यम की गदा उसके डंडे के सदृश हो जाती थी। बात यह थी कि यमराज सूर्य्यवंशी है। अतएव सूर्य्य-देवता उस पर छत्र-सा लगाये चले जाते थे। वरुण का कुछ और ही ठाट था। नल-दमयंती का जोड़ा ख़ूब मिला, यह सोचकर स्वर्गलोक को परमानंद हुआ। यह बात वरुण के पाश से मालूम हुई। वह चमकता हुआ उड़ता चला जाता था। इससे ऐसा जान पड़ता था कि आनंदमग्न स्वर्गलोक के सिर हिलाने से उसके कानों का कुंडल गिरकर अधर में लटकता

चला जा रहा है। आकाश के पवनस्कंध-प्रांत से होकर जाते समय अग्नि-नारायण की शिखा ख़ूब ऊँची उठकर इधर-उधर हिल रही थी। यह देखकर व्योमविहारियों को यह भ्रम हो रहा था कि कहीं इसी को तो भैमी नहीं मिल गई जो मारे ख़ुशी के ख़ूब झूमता झामता चला जा रहा है।

सरस्वती इन चारों देवताओं के साथ थी। सफ़र दूर का था। कटे कैसे ? यह देखकर सरस्वती ने अपनी वीणा उठाई और दमयंती की बातें, पद्य-बद्ध करके, लगी उन्हे गाने और वीणा बजाने। वह बेचारी दमयंती के वियोग से ख़ुद भी बहुत दुखी थी। सो इस गाने-बजाने से उसका भी ख़ूब मनोरंजन हुआ और उसके साथी देवताओं का भी।

इतने में उन लोगों ने खड्ग के समान काले-काले आदमियों का एक झुंड, अपनी तरफ़ आते, देखा। उस समय उन्हें यह भ्रम हुआ कि आगे बढ़कर हमारी अगवानी करने के लिए कहीं मूर्तिमान् आकाश ही तो नहीं उड़ा चला आ रहा है। धीरे-धीरे उन्हे असल बात मालूम हुई। उन्होंने देखा कि यह तो कलिकाल महाराज की सेना है और उस सेना के जनरल, मनोज मिश्र, आगे-आगे बढ़ते चले आ रहे हैं।

मनोज महाशय अकेले न थे। उनके साथ नौकर-चाकर भी थे। उन्होंने भय और लज्जा की ज़रा भी परवा न करके, अगम्या भी नारियों की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों को सदा ही अपनी हथेली पर रख छोड़ा था। पास उनके टका न रह गया था; जो कुछ था दूतियाँ और कुटनियाँ सब चाट चुकी थीं। ऐसे अनुचरों के स्वामी मनोज महाशय की बराबरी भला कौन कर सकता है ? सुनते है, बुद्ध भगवान् ने अपनी तपस्या के प्रभाव से लोक-मात्र को जीत लिया था। मनोज भी उनसे कम न थे। इन्होंने भी सारे संसार

को—समस्त त्रिलोकी को—अपने प्रबल प्रभाव से जीत लिया है। क्या कोई ऐसा भी है जिसके हृदय में इनके तीर आपुंख न धँस गये हों ? प्रत्यक्ष परमेश्वर को भी तो ये कुछ नहीं समझते। ईश्वर अशरीरी होकर सृष्टि-निर्माण करता है। आप भी अशरीरी (अनंग) होकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि इनमें और परमेश्वर में षडाष्टक योग है। ये परमेश्वर के परम विरोधी हैं। ईश्वर ने जगत् में स्त्रियों और पुरुषों के युग्म बनाये हैं। ये इस क्रम को उलट देना चाहते हैं। इसी से ये स्त्री को अस्त्री (शस्त्र-धारी तथा स्त्री का उलटा पुरुष) बनाकर संसार में अपनी अलग ही माया फैला रहे हैं।

ऐसे महापराक्रमी और महाविलक्षण-शक्तिधारी मनोज मिश्र को देखकर, आप शायद यह समझें कि इंद्रादि देवता प्रसन्न हुए होंगे। सो बात नहीं। उनकी आँखें तो नल की शोभा में समूल मग्न हो चुकी थीं। इस कारण उन्होंने मनोज की तरफ़ देखा तक नहीं। उस शोभा का पान बहुत अधिक कर जाने से उन्हें अरुचि-रोग-सा हो गया था—ऐसा भीषण अरुचि-रोग जिसे न तो कोई दवा दूर कर सकती थी और जो किसी देवता के पूजा-पाठ ही से भी न जा सकता था।

मनोज की तरफ़ से आँखें हटा लेने पर देवताओं का ध्यान एक और पुरुष पर गया। उसका हाल कुछ न पूछिए। उसका सारा शरीर लाल था। वह काँप रहा था। अवाही-तवाही बातें बक रहा था। जो चीज़ हाथ में आ जाती उसी को उठा-उठाकर फेंक रहा था। ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था। कभी किसी को फटकारता था; कभी किसी का नाम लेकर पैंतड़ा बदलता था। आपने जाना, ये कौन साहब थे ? इनका नाम था, कप्तान क्रोधसिंह। आप भी अकेले न थे। कितने ही साथियों को साथ लिये हुए थे। इन साथियों की आँखें सुर्ख़ अंगार हो

रही थीं। दाँतों से ओंठ काटने से जो ख़ून निकलता है उस ख़ून की लालिमा ही से इन लोगों की आँखों ने लालिमा प्राप्त की थी। इनके नथनों से ग़ज़ब की निश्वास निकल रही थी। काली नागिनियों की फुफकार को भी वह मात कर रही थी। जब नौकरों का यह हाल, तब मालिक का क्या पूछना? आप महामुनि दुर्वासा को जानते होंगे। जानते हैं न? उनके हृदय को आप दुर्लंघ्य किला समझिए; क्योंकि मन्मथ महाराज के तीरों तक की पहुँच वहाँ तक नहीं होती। पर क्रोधसिंह तो उसी दुर्लंघ्य दुर्ग के भीतर निःशंक आया जाया करते हैं। उन्होंने दिक्पालों को ऐसी भयंकर दृष्टि से देखा जैसे उन्हें वे जलाकर ख़ाक ही कर डालना चाहते हों। उन्हीं को क्यों, उनके अधिष्ठित लोकों को भी। अपने-अपने स्वामियों समेत सभी लोकों को जला डालना उनके लिए बात ही कौन बहुत बड़ी थी!

इसके बाद उन देवताओं ने एक और महाशय को देखा। उनका नाम था कर्नल लोभनाथ। अमीरों के सामने वे अपने दोनों हाथ फैलाने में नितांत निपुण थे। माँगते समय भय से उनका सारा बदन काँपने लगता था; मुँह से पूरी बात तक न निकलती थी। गद्गद-कंठ होकर कुछ तो कहते थे, कुछ मुँह के भीतर ही रखते थे। उनके साथ भी उनके अनुयायी घिरे हुए थे। उनके नाम थे—दैन्य, चौर्य और अत्याहार-जनित रोगी आदि। कुछ लोग ऐसे भी थे जो दूसरों को खाते देख सामने खड़े होकर लार टपकाते फिरते थे। लोभनाथ की लीला अजीब ही थी। धनवान् दानी जब धन बरसाते थे तब आप उस धनवृष्टि को अपने हाथों की टोकरी में ऊपर ही लोक लेते थे और ज़रूरत पड़ने पर अपनी स्त्री और अपने पुत्रों तक को, आफ़्रिका के पूर्वकालीन गुलामों की तरह, धनिकों के हाथ बेच डालते थे। कोप को, काम को और पाँचों महापातकों में से अगम्या-गमन और अपेय-पान को आप एक तिनके से भी

अधिक तुच्छ समझते थे। रहते तो आप सभी इंद्रियों में थे, पर ज़ियादह समय आपका जिह्वारूप महल ही में व्यतीत होता था।

एक और महाशय भी देवताओं को देख पड़े। उन्होंने सच्ची और हितकारक बात न मानने की क़सम खा ली थी। भाई-बंधु, स्त्री-पुत्र और इष्ट-मित्र यदि इन्हें कुछ उपदेश दें—कुछ समझावें-बुझावें—तो उनके उस प्रबोध को सुन लेना उन्होंने हराम समझ रक्खा था। जिस बात पर आप अड़ जाते थे उससे चाहे दमड़ी का भी लाभ न हो, अंत तक उसी पर डटे रहते थे। आपका शुभ नाम था मेजर मोह। ये भी अपने अनुयायियों को साथ लिए हुए थे। ये लोग अपने-अपने कुटुंबरूपी गहरे दलदल में गले तक फँसे हुए थे। बुद्धिमान् इतने थे कि कल प्राण निकलना निश्चित जानकर भी ईश्वर का नाम न लेते थे। मोह महाशय की महिमा अवर्णनीय समझिए। जो लोग अपनी आत्माओं में निर्वाण-ज्ञान-दीपक जलाने की चेष्टा में रत रहते हैं उनके उस उज्ज्वल दीपक को आप उसी तरह मलिन किया करते हैं जिस तरह कि साधारण दीपकों को उन्हीं से उत्पन्न काजल मलिन किया करता है। जिस तरह ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये तीनों ही आश्रमवासी गृहस्थ के आसरे रहते हैं उसी तरह पूर्ववर्णित मनोज मिश्र, क्रोधसिंह और लोभनाथ भी इन्हीं मोह महाशय के आसरे रहते हैं। अगर ये न हों तो उन तीनों को कहीं खड़े होने के लिए भी ठौर न मिले।

यह न समझिए कि उस जन-समूह में यही चार प्रतिष्ठित पुरुष थे। और भी न मालूम कितने रथी, महारथी विद्यमान थे। वे सभी पापरूपी काले-काले कोट, क्या ओवरकोट, पहने हुए थे। ये ओवरकोट उन लोगों के सिर से पैर तक लटक रहे थे। इनकी हक़ीक़त देवताओं ने पहले ही सुन रक्खी थी। बहुतों को वे पहचानते भी थे। इस

कारण सबको देख चुकने पर वे परस्पर बोल उठे—अरे ये तो फ़लाँ हैं, ये फ़लाँ हैं, ये फ़लाँ के फ़लाँ हैं, इत्यादि ।

इतने में उन लोगों का वह सैन्य, समुद्र की तरह उमड़ता हुआ, देवताओं के बहुत पास आ गया। तब उनमें से एक सैनिक ने, बड़े तर्जन-गर्जन के साथ, देवताओं को सुनाकर इस प्रकार व्याख्यान देना शुरू किया—

(३)

अजी ज्ञानवृद्धजी महाराज, सुनिए तो । आपके वेदों में लिखा है कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है । लिखा है न ? ज़रा बताइए तो सही, किसने-किसने यज्ञ करके स्वर्ग पाया है । वेदों में अगर लिखा हो कि पत्थर फेकने से वे पानी पर तैरने लगते हैं तो क्या आप वेदों की इस उक्ति को भी सच मान लेंगे ? नहीं, तो आपने स्वर्ग-प्राप्ति की बात कैसे सच मान ली ? क्यों आप तृतीय पुरुषार्थ अर्थात् काम-सिद्धि की चेष्टा छोड़कर स्वर्ग-प्राप्ति की चेष्टा में लग गये ? अगर पानी पर पत्थर तैर सकता है तो आग में आहुतियाँ डालने से स्वर्ग भी मिल सकता है । अन्यथा दोनों बातें कपोल-कल्पना-मात्र हैं । आपके एक आचार्य बृहस्पतिजी हो गये हैं । उनका नाम आपने कभी सुना है ? वे तो कहते हैं कि अग्निहोत्र, वेद-पाठ, तंत्रोक्त क्रियाओं का साधन, त्रिदंड धारण करना और ललाट पर त्रिपुंड्र लगाना उन लोगों के पेट पालने का एक साधन-मात्र है जिनमें न अक्ल है, न पौरुष है और न ख़र्च करने के लिए जिनके पास एक छदाम ही है । फिर क्यों तुम लोग इन शुष्क आडंबरों के पीछे पडकर लोगों को ठग रहे हो ?

तुम लोग जाति-शुद्धि और कुल की निष्कलंकता के बड़े कायल हो । पर कभी यह भी सुना है—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ,
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ।

संसार अनादि है। अब तक स्त्री-पुरुषों के अनंत जोड़े उत्पन्न हो चुके। काम दुर्वार है; उसके सामने बड़े-बड़े धैर्यवानों का भी धैर्य हवा हो जाता है। कुलों की जड कामिनी-मूलक है। एक भी कामिनी का संपर्क कालुष्य से हो जाने पर आगे पीछे के सैकडों, हज़ारों कुल कलंकित हो जाते है। इस दशा में जातियों और कुलों की पवित्रता का स्वप्न देखना पागलपन के सिवा और कुछ नहीं। अरे भले आदमियो, स्मरांधता जैसे नरों को पीडित करती है वैसे ही नारियों को भी। तिस पर भी तुम लोग, ईर्ष्यावश, नारियों की रक्षा के लिए तो बड़े-बड़े ढोंग रचते हो, पर नरों की रक्षा की रत्ती भर भी परवा नहीं करते। कुल-स्थिति को अक्षुरण रखने का दंभ करनेवाले तुम-जैसों को हज़ार बार धिक्कार!

तुम लोग आक्रोश किया करते हो—पर-स्त्रीसंसर्ग बड़ा भारी पाप है। क्या तुम्हारी यह भावना सच है? मैं तो इस घोषणा को दंभ के सिवा और कुछ नहीं समझता। तुममे से एक का नाम इंद्र है। मेरी बात पर विश्वास न हो तो ज़रा अपने उस इंद्र ही से पूछ देखो। पर पूछने के पहले ज़रा उसे अहल्या की याद ज़रूर दिला देना! तुम लोग वेदों के बड़े भक्त हो। उनमे लिखा है—

सोमराजानो ब्राह्मणा.।

अच्छा तो तुम ब्राह्मण हो या नहीं? और सोम तुम्हारा राजा है या नहीं? फिर तुम गुरु-तल्प-गमन को क्यों पाप समझते हो? जिस काम में तुम्हारे राजा को इतना उत्साह उसी से तुम्हारी घृणा! तुम पूरे राज-विद्रोही हो। पीनलकोड में राजविद्रोहियों के लिए कितनी कडी सज़ा का विधान है, यह बात किसी वकील से तो पूछ लेते।

तुम्हारे वेद कहते हैं, पाप करने से अगले जन्म मे ताप और पुण्य करने से सुख होता है। पर इस जन्म में इसका उलटा प्रत्यक्ष देख

पड़ता है। अगम्या-गमन इत्यादि से सुख होता है या नहीं ? अरे, फिर क्यों प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानकर जन्म-जन्मांतर की न देखी हुई कपोलकल्पित बातों पर विश्वास करते हो ? इसका क्या ठिकाना कि मरकर फिर जन्म होगा। ऐसी संदेहावस्था में भी यदि तुम लोग पाप-कार्य नहीं करना चाहते तो फिर यज्ञों में हिंसा क्यों करते हो ? बोलते क्यों नही ? हिंसा से पाप होता है या नही ? वैदिकी हिंसा से पाप नहीं होता, यह विचार क्या संदेह से ख़ाली है ? कितने ही आचार्य इस प्रकार की हिंसा को निंद्य ठहराते हैं या नहीं ? अरे धूर्तों, कुछ तो अक़्ल से काम लेते !

तुमने अपने वेदों की, इंद्र की, बृहस्पति की कथा सुन ली। व्यास को जानते हो ? वही व्यास जिन्होंने पुराणों के पोथे बनाये हैं। याद है, तुम्हारे लिये उनकी क्या आज्ञा है ? उनकी आज्ञा है कि जातकाम कामिनी को कदापि न छोड़ना चाहिए। इसी से तो उन्होंने विचित्रवीर्य की भार्या के साथ वैसा सलूक किया। तुम लोग इस वृद्धाचार का अनुसरण क्यों नही करते ? क्या तुम अपने बाप-दादे का भी कहना न मानोगे ? मनुष्य का फ़र्ज़ है कि वह ऐसा काम करे जिससे अंत में सुख हो। है कि नहीं ? अच्छा तो सुकृत के अंत में सुख होता है या सुरत के ? तुम्हारा निज का अनुभव क्या है ? फिर भला, क्यों अंधे की तरह सुकृत के पीछे हैरान हो रहे हो ?

अच्छा, व्यास को भी जाने दो। अपने धर्म-शास्त्री मनु को मानोगे या उन्हे भी नही ? उनका फ़रमान है—

सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्।

वे कहते हैं, जो काम ज़बरदस्ती किया जायगा उसकी गिनती किये जाने में न होगी। वह हिसाब ही में न लिया जायगा। पाप करने से यदि सुख मिले तो तुम ज़बरदस्ती उसे क्यों नहीं करते ? ऐसा

करने से तुम्हे मुफ़्त ही में सुख मिल जायगा। तुम्हारा इस तरह किया गया पाप लेखे में न आवेगा। फिर तुम्हे डर किस बात का?

श्रुतियों और स्मृतियों का अर्थ लोग मनमाना किया करते है। जो जितना ही अधिक बुद्धिमान् है, अर्थ करने में वह उतनी ही अधिक बुद्धिमत्ता दिखाता और अपने मन के अनुकूल अर्थ कर देता है। जब यह दशा है—जब कोई एक अर्थ निश्चित ही नहीं—तब क्यों तुम वेदों और धर्मशास्त्रों के वचनों का ऐसा अर्थ नही करते जिससे तुम्हें सुख की प्राप्ति हो? तुम्हारा ही वेदांत कहता है कि तुम शरीर नहीं, तुम तो उससे भिन्न हो। पाप करता है शरीर। अतएव उसके कृत कर्म के भोक्ता तुम कैसे हो सकते हो? छोड दो अपनी इस जडता को। कहना मानो। जिस तरह हो सके सुख-प्राप्ति की चेष्टा करो। मर जाने पर भी संस्कारों का नाश नहीं होता; जीव को पाप-पुण्य का फल भोगना पडता है; श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन से मृत प्राणी की तृप्ति होती है—ये सब धूर्तों की बातें हैं। उनकी प्रतारणा के फंदे मे पड़कर अपना सर्वनाश न करो।

ये जो तरह-तरह के फूल खिलते हैं उनकी शोभा तभी तक है जब तक वे पेड-पौदों पर लगे हुए हैं। वे फल भी तभी देते हैं। फूल ही तोड लोगे तो फल कहाँ से आवेगा। यदि तोडना ही है तो तोडकर अपने सिर पर रक्खो—अपने ही ऊपर चढाओ। पत्थरों पर क्यों उन्हे चढ़ाते फिरते हो? वाह री तुम्हारी मूर्तिपूजा!

ब्रह्मा आदि देवताओं तक ने भी हमारे जनरल मनोज मिश्र की आज्ञा का कभी उल्लंघन नही किया। देखो, जिन वेदों की तुम दुहाई देते हो वे वेद भी तो तुम्हारे देवताओं ही की रचना है। देवता खुद ही जिनकी आज्ञा मानते हैं उन मनोज महाशय की आज्ञा मानना क्या तुम्हारा धर्म नही? अरे मूर्खो, वेदों में और अधिक क्या रक्खा हुआ है? फिर उन पर इतनी अधिक श्रद्धा क्यों? वेद मेरी

ही वाणी है, यह तुम्हारे भगवान् का वचन है या नहीं ? यदि है और यदि वे मनोजाज्ञा मानते हैं तो तुम कहाँ के बड़े ज्ञानी आये जो उसे नहीं मानते।

तुम लोग तो पशुओं से भी गये-बीते जान पड़ते हो ; क्योंकि ब्रह्मा आदि देवताओं और व्यास आदि द्विजों के बनाये ग्रंथों पर तुम आँख मूँदकर विश्वास करते हो। उन्होंने लिख दिया है—"गां प्रणमेत्" अर्थात् गाय को नमस्कार करना चाहिए। बस, तुम लोग लगे पशुओं के सामने हाथ जोड़ने। अरे क्या तुम गाय, भैंस से भी तुच्छ हो जो किसी के कहने-मात्र से उनको नमस्कार करने दौड़ते हो ? क्या ज़रा भी अक्ल से काम लेना नहीं जानते ? तुम्हारी मूर्खता की तो सीमा ही नहीं। बड़े-बड़े यज्ञ करके स्वर्ग की कामना तुम सिर्फ़ इसीलिए करते हो कि मरकर वहाँ जाने पर ललाम-ललाम अप्सराओं की प्राप्ति होगी। ख़ूब-ख़ूब ! इसी से तुम इस लोक में कामुकता से इतना डरते हो ! इसी से तुमने उसका त्याग किया है ! क्या कहना है ! जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए मरते हो उसी का त्याग इस जन्म में करते हो ! अक़्ल का अजीर्ण इसी को कहते हैं। अरे मूर्खो, शम, दम के लिए इतना परिश्रम क्यों करते हो ? परिश्रम करना ही है तो प्रिया की प्रीति के संपादन में करो। भस्म हो गये शरीर का पुनरागमन होगा, इस भ्रम को छोड़ दो।

हरि-हरादि देवताओं की उपासना करके क्यों हैरान हो रहे हो ? इन लोगों की स्त्रियाँ, लक्ष्मी आदि, क्या अपने-अपने पतियों की कम सेवा-शुश्रूषा और पूजा करती है ? वे क्यों न मुक्त हो गईं ? देखते नहीं, वे भी हमारे जनरल मनोज के द्वारा निर्माण किये गये जेलों में बंद पडी हुई सड रही हैं !

दुर्वासा आदि तुम्हारे तपोधन ऋषि ख़ुद तो क्रोध के कीड़े हो रहे हैं, पर दूसरों को क्रोध न करने की शिक्षा देते हैं। यह तो वही

बात हुई जैसे कोई महानिर्धन मनुष्य दूसरे को धनवान् बना देने के अभिप्राय से ताँबे से सोना बना देने की विद्या सिखाने की चेष्टा करे !

क्यों तुम व्यर्थ दान देते फिरते हो ? दान देने से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होती ; कृपण बनने—दान न देने—ही से प्रसन्न होती है। बलि ने सर्वस्व दान देकर क्या पाया ? केवल बंधन ! क्या तुम भी यही चाहते हो ?

इन सब ढकोसलों को छोड़ो। अपने हित की बात सुनो। इनमें रक्खा ही क्या है। स्वच्छंद हो जाओ। जिस काम से सुख की प्राप्ति हो उसे विना विचार किये करो। वेद-पुराण, पूजा-पाठ, दान-पुण्य उठाकर ताक़ पर रख दो।

(४)

इन दुर्वाक्यों को सुनकर इंद्र ने बड़ा कोप किया। उसने उस सैनिक को ज़ोर से ललकारा। वह बोला—

यह दुरात्मा कौन है जो धर्म के मर्मों पर कुल्हाड़ी चला रहा है ? क्या यह नहीं जानता कि भीषण वज्रधारी मैं त्रिलोक का शासन करनेवाला हूँ और वेद ही इस त्रिलोक की आँखें हैं ? उन्हीं पर यदि हरताल लग गया तो यह त्रिभुवन अंधा हो गया समझिए। चातुर्वर्ण्य में ज़रा भी संकीर्णता नहीं आई। जाति-लोप भी नहीं हुआ। इस विषय की जो परीक्षायें शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं वे सदा ही ठीक उतरी हैं। जो वर्णच्युत हो गया वह अलग कर दिया गया; जो जाति-बाहर हो गया सो हो गया। कोई प्रमाण तेरे पास है कि ऐसा नहीं हुआ ? ब्राह्मणी आदि का धर्षण करनेवाले क्या कभी विजयी हुए हैं ? दहकते हुए लोहे का गोला उठाने पर क्या वे जलने से बचे हैं ? जो बच गये वे शुद्ध। जो नहीं बचे वे अशुद्ध, वे जातिच्युत हो गये। जातिहीनता और वर्णसंकरता का फिर क्या ज़िक्र ? जाति और वर्ण, दोनों ही, सर्वथा विशुद्ध बने हुए हैं। इस शुद्धि-रक्षा के लिए ही तो

वेद में जलानल-परीक्षाओं की विधि है। इससे भी क्या तेरी नास्तिकता दूर नहीं होती? तुझे धिक्कार!

रे नास्तिक, कृत कर्म का फल ज़रूर ही मिलता है। संस्कार कभी व्यर्थ नहीं जाते। अदृष्ट का फल कभी नहीं मिटता। यदि तुझे प्रमाण चाहिए तो आँखें खोल। तू समझता होगा कि पति-संयोग होने ही से गर्भोत्पत्ति होती है। यह तेरी भूल है। यह बात होने से भी गर्भोत्पादन नहीं होता—संतति जन्म नहीं लेती। यदि अदृष्ट में नहीं तो हज़ार संयोग हुआ करे। उससे फलोत्पत्ति होती ही नहीं। इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए?

तेरी अच्छी समझ है कि मृत जीव के निमित्त किये गये पिंडदान से परलोकगत आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। मूर्खशिरोमणे, क्या तूने भूताविष्ट लोगों को मरे के लिए गया-श्राद्ध माँगते कभी नहीं सुना? यदि मृतात्माओं को दूसरे के दिये हुए पिंड से तृप्ति न होती तो वे क्यों इस प्रकार की इच्छा प्रकट करते? तू तो मूर्ख ही नहीं महामूर्ख और महानास्तिक जान पड़ता है; क्योंकि तू परलोक को भी नहीं मानता। ऐसी अनेक घटनायें हो गई है जिनमे यम के दूत भूल से अन्य आत्माओं को यमलोक ले गये है। वहाँ जाने पर जब भूल मालूम हुई है तब वे आत्मायें वापस भेज दी गई हैं और उनके मृत शरीरों में फिर जान आ गई है। ऐसी आत्माओं ने परलोक के दृश्यों तक का आँखों-देखा वर्णन किया है। क्या तूने कभी एक बार भी इस प्रकार की घटना नहीं सुनी?

अब तक अग्निदेव मन-ही-मन जल-भुन रहे थे। अब उनसे न रहा गया। उनकी क्रोध-ज्वाला और भी तीव्र हो उठी। उन्होंने उस सैनिक को बड़ी ही कड़ी फटकार बताई। वे बोले—

क्यों इतना प्रलाप करता है? इतनी निरर्गल विकत्थना करते तुझे लज्जा नहीं आती! हम लोगों के सामने इतनी धृष्टता! श्रुतियों में

महीने-महीने भर तक के उपवासों का विधान है। उन उपवासों—उन व्रतों—का अनुष्ठान करनेवाले महीनों बिना खाये-पिये जीते रहते हैं। तुझे यदि एक दिन भी खाने को न मिले तो तू मूर्च्छित हो जाय—तो तू म्रियमाण दशा को प्राप्त हो जाय। यह सब श्रुतिसम्मत कर्मानुष्ठान ही की महिमा है। पर तुझ अंधे की समझ मे यह बात कैसे आ सकती है? चाहिए तो था कि धर्म की यह महिमा देखकर तुझे विस्मय होता, पर, नहीं, तुझ नास्तिक पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। अरे! पुत्रेष्टि इत्यादि यज्ञों की बात भी क्या तूने नही सुनी? इस प्रकार के यज्ञों से अपुत्रियों को भी पुत्र-लाभ होता है या नहीं? यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आती है या नहीं? फिर भी, श्रुति-स्मृति-निर्दिष्ट धर्माचरणविषयक तेरा संदेह बना ही हुआ है? तू तो अक्ल का पूरा दुश्मन मालूम होता है।

धर्मराज से भी न रहा गया। क्रोधावेश मे उन्होंने जो अपने दंड को ऊपर उठाकर घुमाया तो बादलों से टक्कर खाने के कारण उससे आग की चिनगारियाँ निकलने लगी। श्रुति-विरुद्ध बातें सुनने से उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये। उन्होंने ललकारा—रे शठ! खड़ा रह। तेरा कंठ काटे देता हूँ; तेरे ओष्ठ चूर किये देता हूँ। तू न कहने योग्य बाते बक रहा है! तू इतनी विरुद्ध बकवाद कर रहा है! तू छोटे मुँह बड़ी बाते कह रहा है! तुझे धिक्! वेद कह रहे हैं कि परलोक है। वेद-विरोधी बौद्ध-दर्शन आदि भी कह रहे हैं कि परलोक है। अकेला तू कहता है, परलोक नहीं। कौन तेरी बात पर विश्वास कर सकता है? तुझे इस प्रकार प्रलाप करते लज्जा भी नही आती? जितने मत है उनमें से एक न एक मत तो अवश्य ही सच्चा होगा। इस दशा मे उस मत के अनुयायियों को तो धर्म-लाभ अवश्य ही होगा। परंतु तेरे सदृश पुरुष का कदापि निस्तार नहीं; क्योंकि तू

तो सभी मतों को बुरा बता रहा है। तू तो किसी को भी दाद नहीं देता। तू तो सर्व-मतत्यागी चार्वाक का चेला है।

क्रोध से वरुण की आँखें अरुण हो रही थीं। उन्होंने भी अपने पाश को सँभाला। उन्होंने इस प्रकार दारुण वचनों की सृष्टि की—रे पाखंडी! क्या तू मेरे इस प्रचंड पाश से भी नहीं डरता? ज़रा सँभलकर मुँह खोल। विष्णु के कूर्म, मत्स्य, वाराह आदि अवतारों से चिह्नित शालग्राम-शिलायें भला कोई आदमी बना तो ले। उनका निर्म्माण कदापि संभव नहीं। उनकी उत्पत्ति को परमेश्वर ही की लीला समझना चाहिए। इसी से उनकी इतनी महिमा है। क्या इस पर भी वेद-विहित धर्म पर तेरी श्रद्धा नहीं? श्रुति-निर्दिष्ट बातों की सत्यता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है?

इंद्र, अग्नि, यम और वरुण के ऐसे कोप-पूर्ण वचन सुनकर वह सेना-समूह स्तंभित हो गया। उस दल में जो लोग थे उनके दिल दहल उठे। तब उनमें से एक धूर्त कुछ आगे बढ़ा। उसने अपने दोनों हाथों की अंजलि अपने मस्तक पर रक्खी। तब इस प्रकार, बड़ी नम्रता से, उसने उन देवताओं को नमस्कार किया। वह बोला—

स्वर्ग के स्वामियो! आप मुझ पर क्यों इतना रोष प्रकट कर रहे हैं? मेरा कुछ भी दोष नहीं। मैं अपराधी नहीं। मैं तो पराधीन हूँ। आपने शायद नहीं जाना कि मैं कलिकाल महाराज का चारण हूँ। मुझे आप उनका भाट समझें। उनकी तारीफ़ करना तो मेरा काम ही है। इसी की तो मैं रोटी खाता हूँ। अब आप मेरे महाराज से निपट लें। लीजिए, मैं यहाँ से हटा जाता हूँ।

(५)

उस चारण के हटते ही देवताओं ने देखा कि कलि महाराज, अपने रथ पर आसीन, उनके सामने ही विराज रहे हैं। वे अकेले नहीं। उनके सहचर द्वापरजी भी उनके साथ हैं। अत्यधिक कांति से

चमचमाते हुए, अतएव बड़े विस्मयजनक रूपवाले, उन देवताओं की तरफ़ कलिकाल ने भी आँख उठाकर देखा। वह था ब्रह्महत्या आदि पापों से परिवेष्टित। इस कारण नारकी मनुष्य जैसे डरते-डरते देवताओं के सामने होता है वैसे ही पापी कलि ने भी किसी तरह इंद्रादि दिक्पालों के सामने आने का साहस किया। देवताओं की तरफ़ आँख उठाते उसे बड़ी लज्जा मालूम हुई। इससे उसने अपना सिर झुका लिया और इंद्र के तेज से आक्रांत होकर, कुछ देर तक, वह त्रिशंकु की सदृशता को पहुँच गया। उधर, बात करने की बात तो दूर रही, देवता लोग उसकी तरफ़ देखना तक पाप समझ रहे थे—उसी तरह जिस तरह कि चांडाल की तरफ देखना द्विज लोग पाप समझते हैं। जब कलि ने देखा कि ये लोग मेरी तरफ़ आँख तक नहीं उठाते तब उन लोगों की अवज्ञा करके, मतवाले की तरह, वह ख़ुद ही उनसे बातें करने लगा। वह बोला—

शची के सखा, कहिए, कुशल तो है? अग्निजी, मौज कर रहे हो न? यमराज महोदय, आपका क्या हाल है? सुखपूर्वक कालातिपात हो रहा है न? और, मित्रवर वरुण, आप! आपको कोई कष्ट तो नहीं? मज़े में हो न? मैं बड़ी उलझन में हूँ। दमयंती का स्वयंवर हो रहा है। वहीं जा रहा हूँ। जी में आया कि लाओ दार-परिग्रह कर लें। अतएव मैंने दमयंती ही को अपनी अर्द्धांगिनी बनाने का निश्चय किया है। आज्ञा दीजिए तो मैं अपनी राह लगूँ। देर हो रही है।

कलिकाल के इन अकारण और उत्कट अहंकार-सूचक वचनों को देवताओं ने बड़ी ही अवहेलना से सुना। कुछ देर तक वे आपस में एक दूसरे का मुँह देखते और मुसकराते रहे। तदनंतर वे कहने लगे—

कलि! जो कुछ तुम्हारे मुँह से निकल गया सो तो निकल ही

गया। पर अब ऐसी बात अपने मुँह से हरगिज़-हरगिज़ न निकालना। जिसे ब्रह्मदेव ने यावज्जीवन ब्रह्मचारी बना रहने ही के लिये बनाया है वह भला दारपरिग्रह कैसे कर सकेगा? अथवा, हमें इससे क्या? तुम जानो और तुम्हारे निर्म्माता ब्रह्मा। काम, क्रोध आदि तुम्हारे अनुचर जब रोज़ ही ब्रह्मदेव के निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन किया करते हैं तब यदि तुम भी ब्रह्मा की आज्ञा न मानो तो क्या आश्चर्य्य? परंतु वह बात तो हो चुकी। हम लोग तो वहीं से आ रहे हैं। स्वयंवर समाप्त हो गया। उसने तो त्रिलोकी के युवकों का गर्व-स्खलन कर डाला। नागों ही ने नहीं, देवताओं ने भी भैमी की प्राप्ति के लिए बहुत कुछ अनुराग प्रकट किया था। पर वे सब अपना-सा मुँह लिये रह गये। भैमी ने राजा नल ही को सबसे श्रेष्ठ वर समझा और उसी के कंठ में वर-माल्य डाल दिया। भुजंगराजों को तो उसने कुरूप समझा और अमरों को पामर! रहे अन्य नर। सो उनकी क़द्र उसने वानरों से अधिक न की। नल ही को उसने समस्त गुणों का आकर, अतएव अपने योग्य पति, माना। सुना? सो, भैमी को तो नल ले गया। अब तुम स्वयंवर में जाकर क्या करोगे। स्वयंवर अब है कहाँ? वह तो हो चुका।

यह सुनकर कलि के कोप का ठिकाना न रहा। वह रोपांध हो उठा। कालरात्रि में कालांतक रुद्र के समान उसकी मुखाकृति बड़ी ही भयावनी हो गई। उसने कहा—

ठीक-ठीक! बहुत दुरुस्त! तुम्हारे ब्रह्मा तो जिसे चाहें ले बैठें; अपनी दुहिता * तक को न छोड़ें। और आप लोग रंभा, मेनका, उर्वशी आदि दिव्य नारियों के साथ मौज उड़ावें। रहा मैं, सो मैं ब्रह्मचर्य्य का पालन करूँ। सो भी चंद रोज़ नहीं, यावज्जीवन! और चाहे ब्रह्मचर्य्य-पालन करने के कारण मर भी जाऊँ! क्या

---

* प्रजापतिर्वैस्वां दुहितरमभ्यगादिति श्रुतिः।

कहना है ! न्याय हो तो ऐसा हो। वाह रे परोपदेशपंडित ! दूसरों को धर्मोपदेश देनेवाले तुम्हारे काम तो ऐसे जिन्हें सुनकर कानों को भी कँपकँपी आवे—श्रुति तक डर जाय—पर औरों के लिए ब्रह्मचर्य्य-पालन की शिक्षा ! इंद्र को अहल्या की याद क्यों आती होगी ? वे तो ब्रह्मचारी ठहरे न ? तुम लोग सचमुच ही बडे बहादुर हो। स्वयंवर मे नल ने तो त्रैलोक्यसुंदरी दमयंती पाई और तुमने पाई त्रैलोक्य में उपहास करानेवाली लज्जा। ख़ैर, कोरे तो वहाँ से नही लौटे। कुछ पाया तो। किसी ने कमनीय कामिनी पाई, किसी ने लोक-ललाम लज्जा। दोनों बराबर रहे। इसी से तो तुम्हारा मुँह मेरे सामने नहीं हुआ। मुँह टेढा करके बगले झाँकना तुम्हारे लिए सर्वथा उपयुक्त हुआ। लज्जा के कारण तुम मेरे सामने भला मुँह कर कैसे सकते ? अरे ! तुम लोग स्वयंवर में चुपचाप कैसे बैठे रहे ? उस अरसिका दमयंती को अपनी क्रोधाग्नि-पूर्ण दृष्टि से जला क्यों न दिया ? इतना भीषण अपमान तुमने सहा कैसे, यही मेरी समझ में नहीं आता। तुमने कलंक का अच्छा टीका अपने माथे पर लगाया ! तुममें यदि रत्ती भर भी आत्मगौरव होता तो अपने अपमान का बदला उस नीच नल से ज़रूर लेते। सो तो कुछ किया नहीं ; उलटा मुझे आँखे दिखाने चले हो ! बड़े वीर हो ! बड़े आत्माभिमानी ठहरे न ! ख़ैर, उस अखंड अपराधी नल से मैं ही अब बदला चुकाऊँगा। देखूँ, कैसे वह दमयंती के साथ सुख से रहता है। उसे उससे छीन न लूँ तो मेरा नाम कलि नहीं। तुमसे और कुछ करते-धरते तो बनेगा नहीं। सिर्फ तुम मेरी थोड़ी सी मदद करो। वह भी न बन पड़े तो मेरी हाँ में हाँ तो मिलाओ—मेरे इरादे की पुष्टि-मात्र तो करो। तुम्हे इनाम मिलेगा, मुफ्त ही में मैं तुमसे सहायता न लूँगा। भैमी को छीन लाने पर तुम चार और मैं एक, इस तरह पाँचों मिलकर, उससे काम निकालेंगे। हम सब बनेंगे पंच पाडव

और भैमी को बनावेंगे पांचाली। क्यों ठीक है न? इसमें तो तुम्हें कुछ उज़्र या एतराज़ नहीं?

देवताओं के साथ सरस्वती भी थी। उससे कलिकाल का यह प्रलाप नहीं सहा गया। वह क्रोध से अधीर हो उठी। उसने कहा—अरे मूर्ख! क्यों व्यर्थ ही इतनी विकत्थना कर रहा है। ये देवता स्वयंवर में इसलिए नहीं गये थे कि ख़ुद ही भैमी को ले आवें। ये तो नल को भैमी दिलाने, उसे ईप्सित वर देने और उसकी कीर्ति बढ़ाने ही के लिए गये थे। सो तीनों काम ये कर आये। मगर तुझ जड़-बुद्धि की समझ में इनकी ये सदिच्छायें और सज्जनोचित क्रियायें कैसे आ सकती हैं? बकवाद मत कर। चुप रह।

परमप्रगल्भा और अद्भुत वाग्मिनी सरस्वती की बात का उत्तर देने की शक्ति तो कलि में थी नहीं। इस कारण भारती के सार-तीव्र वचनों का शराघात सहकर वह सिटपिटा गया। कुछ भी न बोला। उसके उत्तर को सुना-अनसुना करके वह फिर देवताओं की तरफ़ मुख़ातिब हुआ और बोला—

अच्छा, तो मैं भी अब दमयंती को पाने की इच्छा छोड़े देता हूँ। जाने दो। नल उसे ले गया तो ले जाने दो। पर काम उसने बहुत बुरा किया। उसने बड़ी ही धृष्टता की। इस कारण उस पर मुझे ज़रा भी दया नहीं आती। उसे मैं कदापि छोड़ने का नहीं। अफ़सोस तो इस बात का है कि स्वयंवर के समय मैं वहाँ उपस्थित न हुआ। होता तो यह अवमानना हरगिज़ न होने पाती। पर, ख़ैर, जो कुछ होना था, हो गया। अब क्या कर्तव्य है, सो मैं तुम्हें सुनाता हूँ। देवताओ, मेरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं दमयंती ही को नल से जुदा न कर दूँगा, किंतु नल को उसके राज्य से भी भ्रष्ट कर दूँगा। मैं पत्नी भी उससे छुड़ा दूँगा और उस पत्नी की सपत्नी मही भी उससे छुड़ा दूँगा। सुना या नहीं? मुझसे वैर करके, देखूँ, नल कितने दिनों

तक सुख-चैन से रह सकता है। मुझ प्रचंड तेजस्वी की अवहेलना करने का कुफल उसे अब चखना ही पड़ेगा। देखो, मैं उसे कितनी भारी शिकस्त देता हूँ। संसार सावधान हो जाय और आज से मेरी और नल की शत्रुता के गीत उसी प्रकार गावे जिस प्रकार कि वह किरणमाली सूर्य्य और कैरव की शत्रुता के गीत गाता चला आ रहा है।

यह सुनकर द्वापरजी बोल उठे—हाँ-हाँ, बहुत ठीक कहा। मैं आपके कथन का हृदय से अनुमोदन करता हूँ। आपको नल की ख़ूब ख़बर लेनी चाहिए।

इन लोगों के ऐसे कठोर वचन सुनकर और नल के साथ इनके अकारण वैर का विचार करके बेचारे इंद्र ने अपने कान बंद कर लिये। वह इनके दुर्वचनों को और न सुन सका। ज़रा देर बाद वह बोला—

कलिकालजी, आप तो बड़े ही विलक्षण बुद्धिवाले मालूम होते हैं। आपने जो यह फ़रमाया कि नल को तो दमयंती मिली और हम लोगों को लज्जा, सो बहुत ही दुरुस्त फ़रमाया। सचमुच ही हम लोगों को विशेष लज्जा प्राप्त हुई। जिसे बहुत कुछ देना चाहिए था उसे यत्किंचित् वर और भैमी ही हम लोग दे सके; हमारे लिए यह यथार्थ ही लज्जा की बात हुई। हम लोगों पर नल की इतनी भक्ति है कि उस भक्ति के शतांश ही से वह चतुर्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है—उसे हम लोग चतुर्वर्ग दे सकते हैं। इस हालत में यदि हमने उसे भैमी दे डाली या कोई छोटा-मोटा वर ही दे डाला तो क्या दिया? कुछ न दिया। अतएव तुम्हारा आक्षेप बेजा नहीं। वह बहुत जा है। ऐसे भक्त-शिरोमणि के साथ हम लोगों की यह कंजूसी निःसंदेह लज्जा-जनक है।

भाई कलि, ज़रा होश में आओ। नल के सदृश सज्जन और धर्म-

परायण इस समय त्रिलोकी मे दूसरा नहीं। उसके विपय में जो प्रतिज्ञा तुमने की है वह नितांत निंद्य है। छोड़ दो ऐसा अनुचित विचार। नल भी लोकपाल है और विशाल लोकपाल है। वह तो निपध-देश मे सुधाकर के सदृश यशस्वी और अपनी प्रजा को उसी के सदृश सुख-दायी है। वहाँ तुम्हारा प्रवेश होने का नहीं। और, तुम्हारे साथी द्वापर के लिए भी हमारा यही परामर्श है; उन्हे भी चाहिए कि वे भी तुम्हारी सहायता करने से बाज़ आवें। देखो, भैमी परम पतिव्रता है। उसके साथ कुटिलता करके तुम पार पाने के नहीं। तुम्हारा नुक़सान हो जायगा। तुम्हें व्यर्थ ही परिताप और पश्चात्ताप होगा। भ्रम से जिस तरह सच्चे ज्ञान को बाधा नहीं पहुँच सकती—उसका बाल नहीं बाँका हो सकता—उसी तरह तुम्हारे हज़ार प्रयत्न करने पर भी दमयंती का बाल बाँका न हो सकेगा। देखो, मोह से मत्त होकर यदि तुम वैरसेनि नल के साथ द्रोह करोगे तो वह द्रोह-जनित पातक तुम्हारे सिर चढ़ेगा और तुम्हें विपत्तिग्रस्त होना पड़ेगा। इससे, मेरा कहना मान लो। अपने दुर्विचारों को तिलांजलि दो। जाओ। अपना रास्ता लो।

इंद्र के साथी अन्य दिक्पालों ने भी इंद्र की सलाह की ताईद की। उन्होंने भी कलि-महात्मा को बहुत कुछ समझाया-बुझाया। परंतु उन हज़रत के दिमाग में इन लोगों की एक भी बात न घुसी। वे उलटा लड़ने लगे। देवताओं ने जो कुछ कहा उसका उलटा अर्थ करके वे उसे देवताओं ही पर घटाने लगे। यथा—

> पत्यौ तया वृतेऽन्यस्मिन् यदर्थं गतवानसि ;
> भवत कोपरोधस्तादृत्तमस्य वृथारुपः।

इंद्र ने कहा—जिसे पाने के लिये तू जा रहा था उसने तो दूसरे के साथ शादी कर ली। तुझसे कुछ करते-धरते बना नहीं। अब व्यर्थ रोप करने से क्या लाभ? अब अपने कोप का रोध होने दे। क्रोध

को समेट ले; उसे रोक दे। कलि ने इस उक्ति के अन्य शब्दों का वैसा ही अर्थ करके "भवतः कोपरोधस्तात्" पदों का छेद इस प्रकार किया—

"भवत कोऽपरोऽधस्तात्"

अर्थात् जब दमयंती ने दूसरे को पति बना लिया तो मुझसे अधिक अधम या नीच और कौन होगा?

इसी तरह ये लोग आपस में घंटों लड़ते झगड़ते और परस्पर आक्षेप करते रहे। देवताओं ने जब देखा कि कलि और द्वापर किसी तरह माननेवाले नहीं—नल को पीड़ित करने के लिए इन्होंने कमर ही कस ली है—तब वे आजिज़ आकर अपने-अपने लोक को चल दिये। इधर कलिराज, अपने एक-मात्र सहायक द्वापर को साथ लेकर, नल की राजधानी की ओर रवाना हो गये।

(६)

नल अत्यंत धर्म्मनिष्ठ राजा था। उसके राज्य में जगह-जगह धार्म्मिक कृत्यों के—कूप, बावली, पांथशाला, यज्ञकुंड आदि के अड्डे थे। उन्होंने कलि के मार्ग में बड़े विघ्न डाले। ख़ैर, राम-राम करके कलि-देवता ने बड़ी मुश्किलों से निषध-देश के भीतर प्रवेश कर पाया। वहाँ वेदपाठियों के मुख से पद-पाठ सुनकर उसे अपने पद (पैर) बढ़ाने में बड़ा ही कष्ट हुआ, क्रम सुनकर उसके पैरों का क्रम बिगड़ गया; संहिता सुनकर उसकी गति संहत हो गई—रुक गई। यज्ञ-होम की सुगंधि से उसकी नासा पुटपाक-रोग से पीड़ित हो उठी और धुएँ ने तो उसकी आँखों को अंधा ही सा कर दिया। गृहस्थों के घरों में भोजनार्थ आये हुए ब्राह्मणों के पैर धोने से जो कीचड़ हो गई थी उसमे वह ऐसा फिसला कि हाथ-पैर टूटने से बचे। पितृ-तर्पण करने के कारण हर घर में उसे जो काले तिल पड़े हुए देख पड़े उनसे वह ऐसा डरा जैसे लोग काले नाग से डरते हैं।

उसने देखा कि लोग स्नान करके तिलक लगाये हुए पूजा-पाठ कर रहे हैं। उनके उन तिलकों ने तलवार का काम किया। वे उसके हृदय में घुस से गये। उसे उस समय ऐसा मालूम हुआ जैसे उस का हृदय विदीर्ण हो गया हो। इतने में उसे एक मिथ्यावादी मनुष्य देख पड़ा। इस पर कलि महाराज ने महोत्सव मनाना शुरू किया। पर ज़रा ही देर में उन्हें ज्ञात हुआ कि यह मनुष्य तो हँसी में अपनी स्त्री से विनोदपूर्वक झूठ बोल रहा है। बस, फिर क्या था, आपका खिला हुआ चेहरा तत्काल ही मुरझा गया।

नल की राजधानी में यज्ञयूप गड़े हुए थे। एक नहीं अनेक। उन्हे कलि ने फाँसी देने के लिए गाड़े गये शूल समझा। उसे जान पड़ा, उन शूलों पर सैकडों सर्प लिपटे हुए हैं। यहाँ उसने दस-दस बारह-बारह दिन पर्य्यंत—किसी-किसी को महीने-महीने भर के कृच्छ्रचांद्रायण आदि व्रत करते देखा। पर उनके पास तक जाने का उसे साहस न हुआ। किसी-किसी व्रत-निरत मनुष्य की छाया लाँघ-कर आगे बढ़ने की चेष्टा जो उसने की तो वहीं धड़ाम से ज़मीन पर गिर गया। द्विजों के द्वारा सूर्य्य-मंडल से बुलाई गई गायत्री के दर्शन होते ही कलि की नानी मर गई। आपको वहाँ से भागना ही पड़ा। एक पल में आप हिरन हो गये। न आपको गृहस्थों के घर में पैर रखने को ठौर मिला, न वानप्रस्थों की पर्णशालाओं में, न संन्यासियों की कुटियों में, और न देवताओं के मंदिरों ही मे। जहाँ-जहाँ आप पधारे वहाँ-वहाँ से आपको भागना ही पड़ा।

इस प्रकार इधर-उधर भागते-भागते कलि महोदय को एक गाय देख पड़ी। लोग उसे मख मे मारने के लिए ले जा रहे थे। यह देख-कर आपके आनंद का पारावार न रहा। आप मारे ख़ुशी के नाच उठे। मगर कुछ ही देर में उन्हें मालूम हुआ कि यह गाय तो "सौम्यवृपासक्त" है—सोमयाग-संबंधी धर्मानुष्ठान में काम आने के

लिए है। बस, फिर क्या था; आप हताश होकर वहाँ से चल दिये। गाय ने उसे 'खर' (मूर्ख और गधा) समझकर निराश कर दिया। सौम्य वृष पर आसक्त गाय भला खर की क्यों परवा करने लगी ?

कलि ने बहुत ढूँढ़ा; परंतु, अपनी प्रियतमा हिंसा को कहीं भी न पाया। अपने जन्म के साथी कलह का पता भी उसे कही न लगा। मूर्खों के भी मुख मे उसके रहने का चिह्न उसे न मिला। न स्त्री के, न मित्र के—अपने एक भी कुटुंबी के दर्शन उसे वहाँ न हुए। हुए किसके दर्शन ? मौन-व्रतधारी मुनियों के। उन्हे चुप देख उसने समझा, ये मुझे शाप देने की तैयारी मे हैं ! वंदनीय विद्वानो को सामने आते देख उसे मालूम हुआ जैसे किसी ने उसके सिर पर लात मारी हो।

जहाँ-कहीं बग़ल में आसन दबाये ऋषि लोग उसे मिले वहाँ वह यह समझकर घबरा उठा कि ये लोग आसन नही, लोहे के मारतौल लिये हैं। उन्हीं से ये मेरा सिर चूर-चूर कर देंगे। आचमन करनेवालो के हाथ में जल देखते ही उसके होश हवा हो गए। वह बेतरह डरा कि कहीं ये हाथ का जल ज़मीन पर छोड़-कर मुझे कोई शाप न दे बैठें। ब्रह्मचारियों की कमर में पड़ी मौंजी-मेखला को उसने अपने बाँधे जाने की रस्सी और हाथ के पलाश-दंड को अपनी ताड़ना के लिए उठाई गई लाठी समझा। एक जगह उसकी दृष्टि में पुरोडाश-नामक पिष्ट-पिंड पड गये। बस, वह मारे डर के विह्वल हो गया। उसने समझा, मुझे मारने के लिए, लोगों ने ये सफ़ेद-सफ़ेद पत्थर जमा कर रक्खे हैं। स्रुवा-नामक होम के पात्रों को उसने सर्पिणी समझा। इससे उसे बेतरह त्रास हुआ। बेचारा घंटों खड़े-खड़े रोता रहा।

इतने में एक जगह कलि-महात्मा को द्विजातियों के हाथ में शराब देख पडी। बस, वह दृश्य देखते ही आपकी आंखों मे आनं-

दाश्रु आ गये। आप बड़े ही प्रसन्न हुए। आपने कहा—अच्छा हुआ, ये लोग शराब पीने लगे। परंतु पता लगाने पर आपको ज्ञात हुआ कि ये लोग सौत्रामणि यज्ञ कर रहे हैं और ऐसे यज्ञ में ब्राह्मणों तक को शराब पीने की इजाज़त है। किसकी? वेद की। इस कारण बेचारे कलिजी सिर पीटते हुए वहाँ से भी भाग खड़े हुए।

इस तरह कलिकाल देवता चिरकाल तक मारे-मारे फिरे। तलाश थी आपको पाखंडी मनुष्यों की। पर वे तो मिले नहीं; सब कहीं आपको वेदविद् ही मिले। यह तो वही मसल हुई कि पानी के प्यासे के पल्ले जलती हुई आग की लपट पड़ी। संताप से तप्त होकर आपको अपनी जान बचाना मुश्किल हो गया। आगे बढ़े तो व्रत-निष्ठों को आपने वेदी पर सोते देखा। बस, उस समय आपके जी में यही आया कि इस देश को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाने ही मे कुशल है। इतने में, दैवयोग से, उन लोगों के हाथ में कुश की पवित्री दिखाई दी। तब तो कलिजी ने अपना सिर ज़मीन पर दे मारा। उस समय उन्हे ऐसा मालूम हुआ जैसे उन पर वज्र-पात हो गया हो। नल और दमयंती के दोष ढूँढ़ निकालने की आपने हज़ार-हज़ार चेष्टायें की। पर दोष तो क्या, दोष-लेश भी आपको कहीं न दिखाई दिये। आपकी सारी चेष्टाये विफल हो गईं।

इस तरह घूमते-घामते, रोते-पीटते, कलिजी का न मालूम कितना समय व्यर्थ गया। पर आपने अपनी टेढी चाल न छोड़ी। धुन के पक्के ठहरे न! एक जगह आपने स्वयमेव आई हुई सर्वस्त्री ("स्वयमागताया सर्वस्याः स्त्रियः") के प्रेमी को देख पाया। तब ज़रा आपका हृदय ठंढा हुआ। पर वह ठंढक बहुत देर तक न ठहरी। उन्हे तत्काल ही मालूम हो गया कि वह प्रेमी तो वामदेव का उपासक है—वह तो वाममार्गी है। और ऐसे महात्माओं का तो यह जीवन-व्रत ही सा है कि अपने पवित्र प्रेम को इस प्रकार की स्त्रियों को उदारता-पूर्वक

बाँटते फिरे। इस कारण कलिजी को वहाँ से भी अपना-सा मुँह लेकर भाग खड़ा होना पड़ा। पर आप जाते तो कहाँ जाते। वेदध्वनि तो आकाश मे छाई हुई थी। वहाँ उसने उनके पैर न जमने दिये। रही पृथ्वी, सो पवित्रता का वहाँ अखंड डेरा था। इस कारण वहाँ भी उनका ठहरना असंभव हो गया। बेचारे की दुर्गति तो देखिए। कुछ देर के लिए थोड़ा-सा संतोष उसे यह देखकर ज़रूर हुआ कि बहुत-से ब्राह्मण छुवाछूत का विचार न करके एक ही पंक्ति मे बैठे भोजन कर रहे थे। परतु ये लोग पी रहे थे सोम। सोम भी ऐसा वैसा नहीं; हवन कर चुकने पर बचा हुआ सोम। और ऐसा सोम पीने में छुवा-छूत के विचार की ज़रूरत नही होती। इस कारण कलि का प्रथम-ग्रास संतोष बहुत देर तक टिकने न पाया।

यह दृश्य देख चुकने पर कलिकाल-राम ने कही सुन पाया कि एक गाय मारी जा रही है। बस, फिर क्या था। ख़ुशी के मारे फूलकर आप कुप्पा हो गये और दौड़कर वहीं जा पहुँचे। जाकर आपने पूछा—

प्रश्न—भाई, इसे कहाँ लिये जा रहे हो?

उत्तर—मारने—

प्रश्न—किस के लिए? इस आलभन से किस-किस की तृप्ति होगी?

उत्तर—अजी, हमारे यहाँ एक अतिथि आ गये है। यह आलभन-विधान उन्हीं की सेवा-शुश्रूषा के लिए है।

यह सुनते ही आपका संतोष तत्क्षण ही रोष मे परिवर्तित हो गया, क्योकि अतिथि के लिए ऐसा विधान सर्वथा विधि-विहित माना गया है। लिखा है—"महोक्ष वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्" (वेदों और गृह्यसूत्रो मे तो इसकी आज्ञा है ही। अभी कल के महाकवि, भवभूति तक को बूढ़े वशिष्ठजी के लिए एक वत्सतरी की योजना करनी पड़ी है)।

महाव्रत नाम के याग में कुलटाओं और ब्रह्मचारियों का समागम मना नहीं। मना होता तो श्रुति में उसका विधान क्यों किया जाता ?

("ब्रह्मचारी पुंश्चल्यः सम्प्रवाद इति श्रुतिविहितं ग्राम्यभाषणम्") परंतु ऐसी वेदविहित यज्ञ-क्रिया कलिजी को पसंद न आई। खुश तो आप तब होते जब वेद मे इसका ज़िक्र न होता। इसी से आपको कहना पड़ा कि यह क्रिया-कांड तो भाँड़ों का अकांडतांडव है। इसी तरह की टीका आपको एक और भी श्रुति-सम्मत क्रिया के संबंध में करनी पडी। अश्वमेध-यज्ञ में, यजमान की पत्नी को, अश्व के प्रजोत्पादक अंग से, अपने अवयव-विशेष का संस्पर्श कराना पडता है। निषध-देश की राजधानी मे ऐसा अद्भुत क्रिया-कांड देखकर कलिदेवता को लाचार होकर यही कहना पडा कि जिन वेदों में इस तरह की बातें हैं उनका कर्त्ता ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। हाँ किसी भाँड ने उन्हे बनाया हो तो हो सकता है—

दृष्ट्वाचष्ट स कर्त्तारं श्रुतेर्भण्डमपण्डित·"

क्योंकि ऐसे कार्य्यों की योजना भाँड़ ही कर सकते हैं। कलिजी ठहरे वज्र मूर्ख। फिर भला क्यों न उनके मुँह से ऐसी अभद्र, अनुचित और असभ्य बात निकले ?

कलि को घूमते-घामते नल और दमयंती के भी दर्शन हुए। उनका पारस्परिक प्रेम देख कर आप मन-ही-मन जल भुन गये। उनकी नर्म्मोक्तियों से आप छिद गये। उन्हें मर्मों तक कष्ट हुआ। नल और दमयंती का अश्रुतपूर्व सौहार्द आपके कलेजे मे शल्य-समान घुस गया। फल यह हुआ कि आप उनके सामने खड़े न रह सके। जी छोड़ कर वहाँ से भागे और कहीं अन्यत्र ठहरने की जगह ढूँढने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढते आपने नल के महलों से मिले हुए उद्यान में प्रवेश किया। वहाँ फलों और फूलों के जितने वृक्ष थे किसी पर

भी अपने ठहरने के लिए मचान बनाने योग्य जगह आपको न मिली। बात यह थी कि सारे वृक्षों के दल, फल और फूल देवताओं और द्विजों की पूजा आदि के काम आते थे। जिनकी संपत्ति ऐसे सत्कार्य्य मे ख़र्च होती थी उनके पुण्यात्मा होने मे क्या संदेह ? और पुण्यात्माओं के यहाँ कलि को आश्रय कैसे मिल सकता था ?

नल ने अपने उस बाग़ में सब तरह के पेड-पौधे लगाये थे। दुनिया में जितने उद्भिज्ज होते है, एक भी उसने न छोडा था। इसी से कुर (शाल) नाम का भी एक वृक्ष उसने लगवा दिया था। यह सिर्फ़ इसलिए कि यही क्यों रह जाय। सभी वृक्षों की पूर्त्ति इस बाग़ में हो जानी चाहिए। इसका दल, फल, फूल किसी काम न आता था। अतएव धार्म्मिक दृष्टि से इसका अस्तित्व ही व्यर्थ था। जिससे धर्म्म की कुछ भी सेवा न बन पड़े वह अधार्म्मिक धरा का भार-मात्र बढ़ानेवाला होता है। कलि ने इस पेड़ ही को ग़नीमत समझा। उसने कहा, लाओ तब तक इसी पर कुछ दिन ठहरें। आगे चल कर और कोई इससे अच्छा आश्रय ढूँढ़ निकालेंगे। यहाँ इस इतने बड़े नगर में बैठने को जगह तो किसी तरह मिल गई। अतएव इस मौके को हाथ से न जाने देना चाहिए।

इस तरह सोच-समझ कर कलिकाल महोदय ने तो उस पेड़ पर अपना अड्डा जमाया। रहे द्वापर देवता। सो वे निषध-नरेश नल के राज्य में इस इरादे से भटकने लगे कि कही तो किसी के मुँह से नल के किसी दोष की बात सुनने को मिले। उन्होंने कहा, मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वह दूसरों के दोष ढूँढ़ा करता है। इस कारण यह असंभव नहीं कि किसी-न-किसी के मुँह से मुझे नल की निंदा सुनने को मिल जाय।

इस प्रकार के विशद विचारो से प्रेरित होकर द्वापरजी तो बरसों

नल के शासित देश में नगर-नगर, गाँव-गाँव, घूमते फिरे और कलिजी उस व्यर्थ-जन्मा वृक्ष पर बैठे-बैठे नल का छिद्रान्वेषण करते रहे। अंत में इन दोनों ने नल और दमयंती के साथ कैसा सलूक किया, यह बात बहुत लोगों को मालूम ही होगी। जिन्हें न मालूम हो वे पुराणों के पन्ने उलट कर मालूम कर सकते हैं।

परम दार्शनिक और पहुँचे हुए योगी महाकवि श्रीहर्ष के इस कलजुगी वर्णन में यदि मनोरंजक सामग्री के सिवा जानने, समझने और विचार करने योग्य भी बातें होंगी तो बुद्धिमान् पाठक उनसे अवश्य ही लाभ उठावेंगे।

मार्च, १९२१

वैदिक देवता

हम वैदिक संस्कृत नहीं जानते। अतएव वेद पढ़कर उनका अर्थ समझ सकने की शक्ति भी नही रखते। वेद हमने किसी वेदज्ञ विद्वान् से पढ़े भी नही। इस दशा मे वैदिक देवताओं के विषय में कुछ लिखना हमारे लिए कोरी अनधिकारचर्चा है। पर हम स्वयं—अपने मन से—उनके विषय मे कुछ भी चर्चा नही करना चाहते। आज तक अनेक अर्वाचीन पाश्चात्य तथा भारतवर्षीय विद्वानों ने वेदों तथा अन्य वैदिक विषयों पर निबंध ही नही, पुस्तकें तक लिख डाली हैं। उदाहरणार्थ—वैदिक इंडिया (Vedic India) वे—लोग ऐसे लेख लिखने के अधिकारी थे या नहीं, इस पर विचार करना हमारा काम नही। काम है, विशेष करके भारतवर्ष के वेदज्ञ विद्वानों का। पर उनमें से अधिकांश लेखकों के लेख अँगरेज़ी भाषा में हैं। उनमें से कुछ तो पुस्तकरूप मे निकले हैं और कुछ पुरातत्त्वान्वेषियों के सामयिक पत्रों मे। इधर भारतवर्ष के वेदज्ञों में से अधिकांश विद्वान् अँगरेज़ी जानते ही नहीं। इसी से हम इस लेख मे वैदिक देवताओं पर लिखे गये उन अँगरेज़ी लेखों और पुस्तकों का सारांश, बहुत थोड़े मे, लिख देना चाहते है। यह इसलिए कि इस देश के वे लोग भी उन विद्वानों के विचारों से परिचित हो जायँ जो अँगरेज़ी नही जानते और यह जान ले कि आज कल के नये ढंग के वेदज्ञ उनके वैदिक देवताओं के विषय मे क्या कहते है। इस लेख में यदि कोई गुण या गृहणीय बात हो तो उसके लिए वही लोग धन्यवाद के पात्र है जिनके विचारो का उद्धरण हम करने जाते हैं, और यदि कुछ दोष देख पड़ें तो उन सबके लिए

एक-मात्र हमी वंदनीय हैं। अच्छा, अब प्रकृत विषय की बातें सुनिए—

वेदों का अध्ययन, समालोचना की दृष्टि से, ध्यान-पूर्वक, करने से अनेक अद्भुत-अद्भुत तत्त्वों का पता लगता है। कही तो उनमें पितरों की उपासना है, कहीं देवताओं की उपासना है, और कही परमात्मा की उपासना है। कही बहुदेववाद है; कहीं एकेश्वरवाद। विशेष करके यज्ञ-द्वारा ही अनेक ऐश्वर्य्यों की प्राप्ति के विधिवाक्य हैं। कर्मकांड की यद्यपि अधिकता है, तथापि कहीं-कही ज्ञान-कांड की भी बातें पाई जाती है। अतएव यदि कोई यह जानना चाहे कि वैदिक आर्यों का निश्चित धर्म या मत क्या था, तो उसे बड़ी भारी कठिनाई का सामना करना पड़े, क्योंकि वेदों में अनेक मतों के तत्त्व पाये जाते हैं। वेदाध्ययन से एक बात, जो सबसे प्रधान है, यह मालूम होती है कि हमारे प्राचीन आर्य अधिकांश प्रकृतिपूजक थे—अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों ही को देवता मानकर आर्य्य लोग उनकी उपासना और स्तुति करते थे।

प्रकृति की उपासना करने की बात सुनकर आश्चर्य्य न करना चाहिए। ज्ञान की प्रथमावस्था में सूर्य-बिंब को नियत समय पर उदित और अस्त होते देख, यथासमय आकाश से मेंह गिरते देख, दो लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग उत्पन्न होते देख ज़रूर ही आश्चर्य्य होता है। और, जिस चीज़ को लोग आश्चर्य्य और कौतूहल की दृष्टि से देखते है उसकी यदि वे प्रशंसा और स्तुति करें तो उनका यह काम स्वाभाविक ही समझा जा सकता है।

बच्चों को तारकामय आकाश और नेत्रानंदकारी चंद्रमा देखकर कितना कौतुक होता है। जिन देहातियों ने कभी रेल नही देखी वे जब पहले पहल धड़धड़ाती हुई रेलवे ट्रेन देखते है, तब उनका जी चाहता है कि उसकी पूजा करें—चाहता ही नहीं, कही-कहीं वे लोग

झुंड-के-झुंड इकट्ठे होकर उसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और उसके नाम पर नारियल तक चढ़ाते हैं, यह बात देखी भी गई है। ज्ञान की अनुन्नत दशा में, प्राकृतिक दृश्यों और प्राकृतिक रहस्यों का भेद न जानने के कारण, ऐसा होना कुछ भी विस्मयकारक नहीं।

प्राचीन आर्य्य जो प्राकृतिक पदार्थों की पूजा-अर्चा, उपासना, स्तुति और प्रार्थना करते थे उसका कारण यह था कि वे लोग इन पदार्थों को अद्भुत शक्तिशाली समझते थे। यह बात बहुत पुराने आर्य्यों की है—इतने पुराने आर्य्यों की जिनको हुए लाखों वर्ष बीत चुके होंगे। जिन पदार्थों को उन्होंने देवता माना था उनके कई विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वे पदार्थ जो आर्य्यों और ईरानियों के पृथक्-पृथक् होने के पहले ही, दोनों ही के द्वारा, एक से पूजे जाते थे। इन पदार्थों का देव-रूप-वर्णन ईरानियों (पारसियों) की धर्म-पुस्तक में, हमारे वेदों ही की तरह, पाया जाता है। दूसरे वे पदार्थ जिनकी उद्भावना आर्यों ने, ईरानियों की शाखा से जुदा होने के बाद, की थी। इन पिछले पदार्थों का पता ईरानियों के धर्मग्रंथ में नहीं लगता। तीसरे वे पदार्थ जिनका कोई स्थूल रूप नहीं, अर्थात् जो केवल गुण-मात्र के बोधक हैं, जैसे श्रद्धा, क्रोध, कामना आदि। इनके सिवा वेदों में नदी, समुद्र, पर्वत और अरण्य आदि को भी देवता मानकर उनकी स्तुति की गई है। विद्वानों का अनुमान है कि इन पिछले पदार्थों को देव-पदवी बहुत पीछे प्राप्त हुई है। इस लेख में हम केवल उन प्राकृतिक पदार्थों का उल्लेख करेंगे जिनकी उपासना प्राचीनतम आर्य्यों ने देवता मान कर पहले पहल की और जिनका नामनिर्देश पारसियों के धर्मग्रंथ अवस्ता में भी पाया जाता है। अवस्ता का अनुवाद अँगरेज़ी भाषा में प्रकाशित हो चुका है। अतएव, इच्छा करने पर, अँगरेज़ी जाननेवाले उसे पढ़ कर खुद ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि यह कथन सच है या नहीं।

आर्य्यों ने कार्य्य के अनुसार देवताओं के दो भागों की कल्पना की है। एक भाग में तो वे देवता रक्खे गये हैं जो मंगलकारी अथवा शुभ-सूचक हैं, और दूसरे में वे जो अमंगलकारी अथवा अशुभसूचक हैं। अग्नि, सोम, वरुण आदि की गिनती पहले प्रकार के देवताओं में है; अंधकार, अवर्षण आदि की दूसरे प्रकार के देवताओं मे। मंगलजनक देवताओं की उपासना और स्तुति की गई है और उनसे धन, जन, पशु, अन्न आदि की वृद्धि या प्राप्ति के लिए प्रार्थनायें की गई हैं। पर अशुभकारक और भयंकर देवताओं से घृणा प्रकट की गई है; उनके कोप से बचने के यत्न किये गये हैं; उनसे भयभीतः होने के उल्लेख किये गये हैं। इन पिछले देवताओं का लेख से कोई संबंध नहीं।

आर्य्यों ने देवताओं से जो प्रार्थनायें की हैं वे परलोक में सुख मिलने, मुक्त होने और ब्रह्मपद पाने के लिए नहीं की। उन्होंने विशेष करके सांसारिक सुख की प्राप्ति ही के लिए प्रार्थनाये की हैं—हमारे शत्रुओं का नाश हो! हमारी गायों के अधिक दूध हो! हमें अन्न और जल की कमी से कष्ट न भोगना पडे! हमे सब तरह का ऐश्वर्य्य प्राप्त हो! उन्होंने इसी तरह की प्रार्थनायें की हैं। उस समय उन लोगों को परलोक की विशेष परवा शायद न थी। उसकी प्राप्ति के साधनों का अनुष्ठान उन्होंने बहुत पीछे आरंभ किया। पहले तो वे यज्ञ को भी केवल लौकिक सुखों ही का साधन समझते थे।

जो पदार्थ पूरे तौर से इंद्रियों के द्वारा जानने योग्य न थे उनका वर्णन सभी प्राचीन जातियों के कवियो और पंडितों ने विशेष श्रद्धा और भक्ति के साथ किया है। ऐसे पदार्थों मे द्यावा-पृथवी का नाम सबसे पहले लेना चाहिए। पृथवी का अर्थ है—"बहुत बडी"—"बडे विस्तारवाली" और "द्यावा" किंवा "द्यौः" का अर्थ है—चमकनेवाला। पृथिवी के ओर छोर का पता न पाकर और आकाश

को चमकता हुआ देख कर आर्य्यों को पहले पहल बहुत कौतूहल और आश्चर्य हुआ होगा। इसी से इनको अचिंत्यशक्तिपूर्ण देवता मान कर उन लोगों ने इनकी उपासना और स्तुति आरंभ की होगी। पृथिवी और आकाश की तरफ़ आदिम आर्य्यों के ध्यान का पहले पहल आकृष्ट होना बहुत स्वाभाविक बात समझना चाहिए। अपने विस्तृत निवास-स्थल और सिर के ऊपर चमकते हुए आकाशरूपी चँदोवे को देख कर ज्ञान की प्रथमावस्था में किसे आश्चर्य्य न होगा? आर्य्यों की जो शाखा अपने पूर्व-पुरुषों की प्रधान निवास-भूमि को छोड़ कर फ़ारिस तथा योरप की तरफ़ गई वह पृथिवी को तो नहीं, पर द्यौः अथवा द्यौष्पितर शब्द को वहाँ भी अपने साथ लेती गई। ग्रीक भाषा का 'ज्यूस-पेटर', लैटिन का 'डीस पिटर' और 'जुपिटर' तथा उनका पिछला रूपांतर 'ड्यूस' और 'डिओस' क्रमशः वैदिक शब्द द्यौष्पितर और द्यौ के सिवा और कुछ नहीं।

द्यावापृथिवी और द्यौष्पितर (आकाशरूपी पिता) के अनंत आश्चर्य्यजनक दृश्य देखते-देखते उनके विशेष-विशेष गुणों का वर्णन करने में आर्य्योंके हृदय-पटल पर उनकी एक-एक विशेष मूर्ति सी खचित होने लगी। उसी मूर्ति की भावना करते-करते उन्होंने इस प्राकृतिक पदार्थ-युग्म को साकार मान लिया और उसे देवत्व पद को पहुँचा दिया। उन्होंने इन पदार्थों को युग्म मान कर कभी उनकी स्तुति एक ही साथ की, कभी दोनों की अलग-अलग। इस युग्म को वे धीरे-धीरे समस्त प्राणधारियो का प्राणदाता और जीवन के समस्त साधनों का उत्पादयिता मानने लगे।

आश्चर्य्यजनक भिन्न-भिन्न प्राकृतिक पदार्थ देखने से आर्य्यों के कौतूहल की वृद्धि होती गई। इन पदार्थों ने अपने गुणों से आर्य्यों को मुग्ध कर लिया। इनसे संबंध रखनेवाले दृश्यों के कार्य-कारण-भाव का पर्याप्त ज्ञान न होने से आर्य्य लोग इन्हे विलक्षण-शक्ति-

संपन्न मानने लगे। इसी तरह धीरे-धीरे अनेक वैदिक-देवताओं की सृष्टि हो गई। जिस वस्तु में उन्होंने कोई अद्भुत बात देखी उसी को वे देवता समझने और स्तवन तथा उपासना के द्वारा उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे।

महत्व में द्यावापृथिवी किंवा द्यौष्पितर से उतर कर वैदिक आर्यों के दूसरे देवता वरुण हैं। वरुण-शब्द संस्कृत-भाषा के एक ऐसे धातु से निकला है जिसका अर्थ है आच्छादन करना। वैदिक ऋषियों अथवा कवियों ने देखा कि आकाश इस पृथ्वी का आच्छादन सा किये हुए है। यह बहुत बड़ी बात है। इससे वे आकाश को वरुण के भी नाम से पुकारने और उसे देवता मान कर उसकी पूजा करने लगे। किसी ऊँची जगह पर खड़े होकर चारों तरफ देखने से यही जान पड़ता है कि आकाश क्षितिज को छू रहा है। इसमें संदेह नहीं कि आज-कल भी आकाश एक प्रकार का शामियाना या चँदोवा ही सा मालूम होता है। प्राचीन-काल में तो वैदिक आर्य ही नहीं, और देशों के भी निवासी, आकाश को छत की तरह पृथ्वी पर तना हुआ मानते थे। इस विशाल पृथ्वी पर विना किसी थूनी-थाँभ के, तने रहनेवाले इस चमकीले आकाश को आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखना और उसे देवता मान लेना सभ्यता की प्रथमावस्था में सर्वथा स्वाभाविक जान पड़ता है। ऋग्वेद के वरुण से मतलब आकाश के सिवा और किसी चीज़ से नहीं। आरंभ में तो जो कुछ वरुण के विषय में कहा जाता था वह केवल काल्पनिक था—अर्थात् कविता करने में कवि लोग जैसे अपनी कल्पना और प्रतिभा के बल पर आकाश-पाताल एक कर देते हैं और जिन बातों के अस्तित्व तक का कहीं पता-ठिकाना नहीं उनका वर्णन प्रत्यक्ष देखे गये पदार्थों की तरह करते है, वैसे ही वैदिक छंदों में वरुण पर कविता होती थी। पर धीरे-धीरे वे काल्पनिक भाव लोगों के हृदयों से दूर होते गये और वरुण को उन्होंने एक मूर्त्तिमान् देवता

मानना आरंभ कर दिया। आदि में वे वरुण को सारे संसार का आच्छादन करनेवाला, पृथ्वी की सीमा का मापनेवाला, रात और उषःकाल को जन्म देनेवाला मानते थे। तब तक वरुण, अर्थात् आकाश, के यथार्थ गुणों के ज्ञान से वे लोग बहुत दूर नहीं जा पड़े थे—तब तक, उनकी दृष्टि में, वरुण में आकाशत्व भाव विद्यमान था। इस प्रकार स्तुति और प्रशंसा करते-करते एक के बाद दूसरी पीढ़ी बीतती गई और प्राचीनतम वैदिक ऋषियों के वंशज वरुण के गुण-गान मे बराबर नमक-मिर्च लगाते गये। नौबत यहाँ तक पहुँची कि वरुण, आकाश के बदले, आकाश में राज्य करनेवाला देवता हो गया। ऋग्वेद के सातवें मंडल को पढ़िए। वरुण के आधिपत्य की महिमा से वह परिपूर्ण है। सारे प्राकृतिक नियमों का नियंता वही हो गया है। पापियों को दंड और पुण्यात्माओं को सर्वैश्वर्य देनेवाला भी वही बन बैठा है। दिन और रात का कर्त्ता भी वही है; शायद इस कारण कि सूर्य्य और चंद्रमा आपके नेत्र हैं। यही वरुण बहुत पीछे सलिलाधिप बन बैठे हैं। जल आकाश से गिरता है। अतएव पहले वे आकाशज जल के स्वामी बने, तदनंतर सामुद्रिक जल-समुदाय के भी बन गये।

द्यावा-पृथिवी या रोदसी के बीच आर्य्यों ने एक और लोक की भी कल्पना की थी। उसका नाम उन्होंने रक्खा था—अंतरिक्ष। अंतरिक्ष से उनका मतलब वायुलोक या वायुमंडल से था। उसे भी उन्होंने वरुण के अधिकार में दे दिया था। शायद उनकी यह भावना हुई—और यह भावना यथार्थ मे सच भी हो सकती है—कि अंतरिक्ष ही में प्रचंड पवन का परस्पर युद्ध या घोर घर्षण होता है; वहीं मेघमंडल बनता है, वहीं बरसने योग्य होने तक जलसमूह जमा रहता है; और वरुण की आज्ञा से पृथ्वी को हरी-भरी करने और प्राणधारियों के प्राणधारण में साहाय्य पहुँचाने का कारण होता है। आर्य्यों की समझ

यह थी कि वरुण ने एक क़ानून बनाया है। उसका नाम है—ऋत। उसकी पाबंदी सभी को करनी पड़ती है। सूर्य्य, चंद्रमा और अन्य ग्रहों को उसी के अनुसार यथासमय घूमना पड़ता है। दिन-रात का होना, ऋतुओं का समय पर बदलना और वर्षा आते ही पानी बरसना वरुण के बनाये हुए इसी 'ऋत'-नामक क़ानून का फल है। वशिष्ठ ने ऋग्वेद में वरुण के माहात्म्य-गान के तूमार बाँध दिये हैं।

वरुण महाराज के एक भाई भी हैं। ऋग्वेद के आर्य्य-ऋषियों ने उनका नाम रक्खा है—मित्र। इन दोनो भाइयों की उन्होंने अलग-अलग भी उपासना और स्तुति की है और एक साथ भी। उनसे वर-प्रदान भी ख़ूब माँगा है। जो बात उन्होंने एक के लिए कही है वही प्रायः दूसरे के लिए भी। मित्र से ऋषियों का मतलब कभी तो सूर्य्य से है, कभी आकाश से और कभी उस कल्पित शक्ति-विशेष से जिसके प्रभाव से सूर्य्य का यथासमय उदयास्त होता है। इसी से ऋषियों ने मित्र को भी दिन-रात का कर्त्ता माना है। मित्र की तरह वरुण भी आकाश-स्थित वृष्टि-जल के स्वामी हैं। परंतु इनका यह पिछला अधिकार अन्यान्य अधिकारों से धीरे-धीरे इतना बढ़ गया है कि इस समय आप, अर्थात् वरुण, जल के एक मात्र अधिष्ठाता देव माने जाते हैं। मित्र से भी इस समय एक मात्र सूर्य्य ही का अर्थ लिया जाता है। ईरानियों की धर्मपुस्तक में मित्र महाराज प्रायः अपने पूर्व रूप में ज्यों के त्यों बने हुए हैं। उनके नाम के त-कार की जगह सिर्फ़ थ-कार हो गया है। मित्र के वे मिथ् बन गये हैं।

मित्र और वरुण आदित्य कहाते हैं। अदिति की संतान का नाम आदित्य है। अर्थात् ये दोनों देवता अदिति से उत्पन्न हुए हैं। अच्छा, अदिति क्या पदार्थ है? वैदिक विद्वानों ने अदिति का अर्थ किया है—अनन्तता, अविनाशता आदि। आकाश अनंत है; उसका नाश होते भी किसी ने नहीं देखा। अतएव उसका अदिति नाम यथार्थ

है। अदिति के पुत्र मित्र और वरुण नामक आदित्यों को भी अनंत और अविनाशी होना ही चाहिए। ऋग्वेद के अध्ययन ही से पंडितों ने इन बातों का अनुमान किया है। उनके कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि ऋग्वेद में उल्लिखित देवताओं को एक प्रकार का रूपक समझना चाहिए। आकाश और प्रकाश आदि के आधार पर वैदिक ऋषियों ने अनेक रूपक रच दिये हैं।

भग और अर्य्यमन (अर्य्यमा) के भी नाम ऋग्वेद में हैं। ये भी आदित्य हैं। इन सबका काम ऋत की रक्षा करना, दंडनीय जीवों को दंड देना और क्षमा के पात्र प्राणियों को क्षमा-प्रदान करना है।

अग्नि में प्राचीन आर्य्यों की बड़ी श्रद्धा थी। वे उसे बहुत बड़ा देवता मानते थे। ऋग्वेद में अग्नि से संबंध रखनेवाले सैकड़ों मंत्र हैं। आर्य्यों के घरों में अग्निदेव सदैव प्रज्ज्वलित रहते थे। सायं, प्रातः और मध्याह्न में भी नियमपूर्वक अग्निहोत्र होता था। नूतन अग्नि की स्थापना बड़े समारोह से होती थी। अरणी से आग उत्पन्न की जाती थी—दो लड़कियों को परस्पर रगड़ते-रगड़ते वे जल उठती थीं। इस प्रकार लकड़ी के भीतर से अग्नि को निकलते देख आर्य्यों को अनंत आश्चर्य होता था। वे नाना प्रकार की विभावनायें, संभावनायें और कल्पनायें करते थे। कोई कहता था कि अग्नि नवजात शिशु की तरह पैदा हुआ है। कोई कहता था—अरे! इन निर्जीव लकड़ियों के भीतर से यह सजीव, जलता हुआ, देवता कैसे निकल आया! कोई कहता था—ग़ज़ब, इसने तो पैदा होते ही अपने माँ-बाप को खा लिया! कोई कहता था—भाई, हम अल्पज्ञ मनुष्य हैं; अग्नि बहुत बड़ा देवता है; उसकी लीला वही जाने; हम लोग नहीं जान सकते।

उष्णता और प्रकाश को भी आर्य्य अग्नि ही का रूपांतर समझते थे। अग्नि और जल ही के किसी न किसी रूपांतर की उन्होंने सबसे

अधिक अर्चना और उपासना की है। परंतु जल की अपेक्षा अग्नि को उन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। देवता मानने के सिवा वे उसे माता, पिता, भाई, बंधु और मित्र सभी कुछ समझते थे। वे हवन, अग्निहोत्र और विशेष-विशेष यज्ञों में प्रधानतः अग्नि ही की आराधना करते थे। इस आराधना को आर्य्य लोग सबसे अधिक आवश्यक समझते थे। घर-घर अग्नि की पूजा होती थी। आर्य्यों की दृढ भावना थी कि अग्नि ही से प्राणरक्षा होती है; अग्नि ही से धन-धान्य मिलता है; अग्नि ही की कृपा से शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति होती है; अग्नि ही के प्रभाव से पानी बरसता है; और अग्नि ही के द्वारा हुत पदार्थ स्वर्ग में देवताओं को प्राप्त होता है। इस अग्नि-पूजा का प्रचार इस समय इस देश में बहुत कम हो गया है; परंतु प्राचीन ईरानियों के वंशज पारसी लोगों के यहाँ इसका प्रचार प्रायः पूर्ववत् बना हुआ है।

प्राचीन आर्य्य लौकिक और वैदिक अग्नि ही को अग्नि न समझते थे। बिजली और सूर्य्य आदि में जो प्रकाश है उसे भी वे अग्नि ही के अंश का विजृंभण जानते थे। वे तो वनस्पतियों तक में अग्नि की सत्ता मानते थे। वे समझते थे कि पेड और पौधे जो बढ़ते हैं और सूखते नहीं, इसका कारण अग्नि ही है। यदि पेड़ों में आग न होती तो लकडी रगड़ने से वह पैदा कैसे हो जाती। इन्हीं कारणों से छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कोई भी धार्म्मिक काम विना अग्नि की आराधना या सहायता के न होता था। जन्म से लेकर मरण-पर्यंत, नहीं मरणोत्तर भी, अग्नि की बराबर अर्चा होती थी। यह अर्चा, किसी न किसी रूप में, थोडी बहुत अब तक विद्यमान है।

अच्छा, अग्नि को पहले पहल पाया किसने? मातरिश्वन् ने। वैदिक पंडितों का अनुमान है कि मातरिश्वा या मातरिश्वन् से आर्य्यों का मतलब बिजली से है। बिजली ही में आग देख कर आर्य्यों को उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई। मातरिश्वन् से अग्नि

लेकर भृगु उसे एक लकड़ी के भीतर छिपा लाये। उनसे और लोगों ने उसे पाया। विद्वज्जन इस वैदिक बात का यह अर्थ करते हैं कि भृगु नामक ऋषि अथवा भृगु के वंशजों ने रगड कर लकडी से आग निकालने की युक्ति का पहले पहल आविष्कार किया।

आर्य्य ऋषि आकाश, अंतरिक्ष और पृथिवी इन तीनों जगहों में अग्नि की सत्ता मानते थे। उनके लिए अग्नि सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वफलदायक देवता था।

आर्य्य लोग सोम की शक्ति और महिमा के इतने क़ायल थे कि ऋग्वेद का एक मंडल का मंडल उन्होंने उसकी प्रशसा और स्तुति से भर दिया है। आर्य्यों का सोम-देवता बहुत पुराना है। अवस्ता का हौम इसी सोम का प्राचीन ईरानी नाम है। इससे सिद्ध है कि आर्य्यों और ईरानियों के पूर्वज जिस समय एकत्र रहते थे उस समय भी सोम-रस का पान किया जाता था और यज्ञों में वह काम आता था। इसमें संदेह नहीं कि दूध, दही और अन्नपिष्ठ मिला कर सोम-रस में मादकता उत्पन्न की जाती थी। उसके पान से जो नशा होता था उससे सोमपायी आर्य्य अपने मे एक अद्भुत-शक्ति का संचार हुआ समझते थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूक्त से सूचित होता है कि नशे के आवेश मे आर्य्य लोग अद्भुत-अद्भुत बातें कहते थे—"क्या मै इस पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ? क्या मेरा एक अंश पृथ्वी और दूसरा अंश आकाश नहीं? मै बादलों को छू सकता हूँ। सोम मुझे हवा की तरह इधर-उधर उड़ा ले जाता है।" ये उनकी अद्भुत-अद्भुत बातों के नमूने है।

एक ऋषि कहता है कि पहले पहल वरुण ने सोम को पर्वतों पर पैदा किया। दूसरा कहता है, मातरिश्वन् उसे स्वर्ग से ले आये। तीसरा कहता है, बाज़ की तरह की एक चिड़िया उसे पर्वतों के ऊपर से ले आई। इन बातों से सोम का पर्वतों पर—विशेषकर

हिमालय पर—होना प्रकट होता है। उसको तोड़ने, एकत्र करने और बेचने इत्यादि से संबंध रखनेवाले कितने ही नियम वैदिक ग्रंथों में पाये जाते हैं। जब आर्य्य लोग हिमालय के आसपास या पश्चिम के पर्वतीय प्रदेशों में रहते थे तब तो सोम की प्राप्ति मे उन्हें कठिनाई न होती थी। पर जैसे-जैसे वे उन प्रांतों को छोड़ते गये वैसे ही वैसे उन्हें सोम दुष्प्राप्य होता गया। इससे उन्हें उसे दूर से मँगाने की ज़रूरत हुई। जो लोग एकत्र करके सोम बेचते थे उनका एक समुदाय ही जुदा हो गया। ये लोग बहुधा अनार्य्य थे और सोमविक्रेता कहाते थे। ये नीच समझे जाते थे; क्योंकि ये लोग सोमरस न पीते थे; सिर्फ़ सोम की लतायें बेचते थे। फिर भला सोम का आदर न करनेवालों को सोमपायी आर्य्य निंद्य क्यों न समझते।

यथार्थ में सोम-रस को आर्य ऋषि सच्चा देवता न मानते थे। सोम के अधिष्ठाता देव को वे स्वर्ग में रहनेवाला समझते थे। सोम-रस को वे उस देवता का पार्थिव अवतार मान कर उसका सेवन करते थे और यज्ञों मे देवताओं का आह्वान करके उन्हें उसे पिलाते थे। उनकी समझ मे सोम अमृत था। उसी के पान से देवताओं को अमरत्व, सर्वशक्तिमत्ता और अनंतकाल तक स्थायी तारुण्य प्राप्त था।

सोम और अग्नि के संबंध में कही गई बातों का विचार करने से जान पड़ता है कि आर्य्यऋषि सूर्य्य में जैसे अग्नि की भावना करते थे, अर्थात् सूर्य्य को भी वे जैसे अग्नि का अंश मानते थे, वैसे ही वे सोम मे चंद्रमा की भावना करते थे। चंद्रमा का एक नाम जो सोम है वह इस बात का प्रमाण है। चंद्रमा मे अमृत रहता है—वह अमृतवर्षी है—और सोमरस भी अमृत पान ही के बराबर गुणकारी है। अथवा यह कहना चाहिए कि देवताओं के लिए सोम ही अमृत है। उसे पीने से पीनेवालों में अलौकिक सामर्थ्य आजाती है।

लौकिक सोम—सोम की लता का रस—उस अलौकिक सोम-रस किंवा अमृत का पार्थिव रूप है। इससे उसमें इतना गुण नहीं। तथापि, फिर भी, वह अत्यंत शक्तिवर्धक है, क्योंकि उसके पान से पीनेवाले में पृथ्वी के टुकड़े-टुकडे कर डालने की शक्ति आ जाती है। शतपथ-ब्राह्मण तथा अन्य भी अनेक ग्रंथों मे चंद्रमा 'राजा सोम'' कहा गया है। सो वैदिक सोमयज्ञ एक प्रकार की चद्रपूजा या चंद्रोपासना है। चंद्रमा अपनी किरणों से वनस्पतियों का पोषण करता है। अन्य वनस्पतियों के रसपान से मादकताजात अद्-भुत शक्ति नहीं आती, पर सोमरस से आती है। भंग के पौधे का आविष्कार या आविर्भाव तव तक न हुआ था। अतएव, क्या आश्चर्य्य जो सोम-नामक चंद्रदेव ने अपने पूजक आर्य्यों को शक्तिमान् बनाने के लिए ही, सोम-वल्ली के भीतर अपनी किरणें विशेषरूप से प्रविष्ट कर दी हों—उसमें उन्होंने अंशावतार लिया हो! ज़रूर यही होगा। तभी तो आर्य्यों ने इस लता को निचोड कर उसका अमृत पान करना अपने लिए बड़े भाग्य और बड़े गर्व की बात समझा।

विवस्वत् शब्द के कई अर्थ हैं। वह कई पदार्थों या देवताओं का वाचक है। अधिकांश वैदिक विद्वानों की राय है कि प्रातःकालीन सूर्य्य ही का नाम प्राचीनतम आर्य्यों ने विवस्वत् (विवस्वान्) रक्खा था।

इस विवस्वत् के पुत्र यम की उन्होंने बडी महिमा गाई है। यही यम अवस्ता मे "विवन्हवंत" के पुत्र "इम" के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् ये भी आर्य्यों और ईरानियों के यहाँ एक से विराजमान हैं। यम से आर्य्यों का मतलब अस्तकाल के सूर्य्य से था। सायंकाल के सूर्य्य को प्रात:काल के सूर्य्य से उत्पन्न मानना—उसका पुत्र कहना—कुछ भी असंगत नहीं। वैदिक कवियों ने ऐसी-ऐसी कितनी ही कल्पनायें की हैं—कितने ही रूपक रचे हैं। पिछले आर्य्य यम

को परलोक गया हुआ पहला मनुष्य मानते थे। उनका ख़याल था कि जो लोग मरते हैं वे सब यम ही के अतिथि होते हैं। परलोक में वही उनके रहने और आराम का प्रबंध करते हैं। आर्य्यों ने प्रातः और सायंकाल को, सारमेय-नामक दो कुत्ते बना कर, उन्हें यम के दूत की पदवी दी थी। यही दो दूत मृत मनुष्यों को ढूँढ़ ढूँढ़कर राजा यम के यहाँ ले जाते थे। यम को आर्य्यों ने मृत मनुष्यों का राजा माना था; उनका न्यायाधीश या दंड देनेवाला नहीं। यह पिछला अधिकार यम को बहुत पीछे प्राप्त हुआ है।

आर्य्यों का एक देवता और भी है। उसका उल्लेख ऋग्वेद और अवस्ता में समानरूप से पाया जाता है। उसका नाम है वायु या वात। वायु से आर्य्यों का मतलब आँधी या तूफ़ान से न था। वे उसे परिश्रमहारक, सुखस्पर्श और प्राणियों के प्राणों की रक्षा करने वाला वायु समझते थे।

जिन देवताओं का उल्लेख इस लेख में किया गया है वे ऋग्वेद और अवस्ता दोनों में तद्वत् पाये जाते हैं। यह इस बात का दृढ़ प्रमाण है कि किसी समय आर्य्यों और ईरानियों के धर्म्म-विचार एकही से थे और यदि वे एकही पूर्व-पुरुषों की संतान न भी थे तो भी वे एकही प्रकार के देवताओं की पूजा ज़रूर करते थे। इससे एक बात और भी जानी जाती है। वह यह कि प्राचीनतम आर्य्यों ने प्राकृतिक पदार्थों ही को देवता माना था और उनके देवताओं में प्रकाश या तेज (अग्नि, उष्णता, आभा, दीप्ति आदि) और जल ही के तत्वों के द्योतक पदार्थों का आधिक्य था।

जून, १९२१

आर्य्यों की जन्मभूमि

पूने में नारायण भवानराव पावगी नाम के एक सज्जन हैं। आप पहले कहीं "सब जज" (सदर आला) थे। आप बड़े महत्वाकांक्षी, बड़े विद्या-व्यसनी और मराठी भाषा के बडे नामी लेखक हैं। पुरातत्त्वज्ञ पंडित यदि आपकी गणना सर भांडारकर, आर० डी० बैनर्जी और हरप्रसाद शास्त्री आदि ख्यातनामा पुरातत्त्वज्ञों की श्रेणी के विद्वानों में न करें तो न सही, पर हम लोग, सर्व-साधारण जन, तो पावगी महाशय ही की पुस्तकों और लेखों से विशेष लाभ उठा सकते हैं। अशोक की प्रशस्तियों में अमुक 'क' की जगह 'ख' होना चाहिए, इस प्रकार की खोज करनेवालों का प्रकृत महत्त्व साधारण जन नही जान सकते। पर पावगी महाशय की खोज इस तरह की नही। आप एक बहुत बडा ग्रंथ, मराठी में, लिख रहे हैं। उसका नाम है—भारतीय साम्राज्य। इस ग्रंथ क्या, ग्रंथराज, के ११ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। पर इतने ही अभी और प्रकाशित होने को हैं। जो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, सुनते हैं, उनमें से कई एक पुस्तकें बड़े मोल की हैं। उनमें प्राचीन भारत के भूगोल, शास्त्र, कला, शासन, संस्थायें, धर्म, जाति, इतिहास, भाषाओं आदि का विशद विवेचन है। आपने और भी कई पुस्तके, अपनी मातृभाषा में, लिखी हैं। अँगरेज़ी मे भी आपने तीन पुस्तकों की रचना की है। उनका भी संबंध प्राचीन भारत से है।

अभी हाल मे आपने एक और पुस्तक लिख कर प्रकाशित की है। विषय के लिहाज़ से उसे अनूठा ही कहना चाहिए। उसका नाम बहुत लंबा है—"ऋग्वेदांतील सप्त-सिंधूचा प्रांत अथवा आर्य्या-

वर्तातील आर्य्यांची जन्मभूमी आणि उत्तरध्रुवाकडील त्यांच्या विस्तीर्ण वसाहती"—यह इतना बड़ा नाम सुभीते का नहीं। इस कारण हमने इसका नाम, अपने मन में, "आर्य्यों की जन्मभूमि" समझ रक्खा है और इसी नाम से, आवश्यकता पड़ने पर, इसका उल्लेख करेंगे।

भारतवर्ष की सभ्यता बहुत पुरानी है। कुछ लोगों का ख़याल तो ऐसा है कि उसकी प्राचीनता का ठीक-ठीक पता ही नहीं लग सकता। पर कुछ का विचार इसके विपरीत है। इन "कुछ" में अधिक संख्या पाश्चात्य पंडितों ही की है। ये लोग इस देश की सभ्यता-विषयक भिन्न-भिन्न बातों को ईसा-मसीह की स्थिति के दो चार सौ वर्ष इधर ही उधर खींच खाँच लाने का यत्न करते हैं और कर भी चुके हैं; फिर, चाहे इनकी यह खींच खाँच ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आश्रित हो, चाहे केवल अनुमान पर। भारतवर्ष के विद्वानों में भी कुछ लोग इसी कक्षा के हैं। जिस प्रकार इस श्रेणी के पाश्चात्य विद्वान् भारत की कितनी ही बातों की प्राचीनता को कम समझते हैं उसी प्रकार इस देश के ये विद्वान् उसे बहुत अधिक बढ़ा कर बताते हैं। उदाहरणार्थ—यदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों की समझ में ऋग्वेद ईसा के तीन ही चार हज़ार वर्ष पहले का है तो भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वह उससे कई गुना अधिक पुराना है। अस्तु। पावगी महाशय, भारतीय विद्वानों की उसी श्रेणी के हैं जो भारतीय सभ्यता-संबंधिनी कितनी ही बातों को बहुत—बहुत ही अधिक—पुरानी समझते हैं। पर, साथही वे अपनी इस तरह की उक्तियों को निराधार नहीं लिख मारते। प्रमाण भी देते हैं, तर्क के आधार पर चलते हैं, और यदि अनुमान से काम लेते हैं तो उस अनुमान को प्रमाण की सीमा के बहुत बाहर नहीं चला जाने देते। आपकी इस—"आर्य्यों की जन्मभूमि"-नामक पुस्तक में इस बात के एकाधिक प्रमाण पाये जाते हैं।

पुरातत्त्व के कुछ पंडितों का विचार है कि भारतवर्ष के आदि आर्य्य, मध्य-एशिया के किसी स्थान-विशेष से आकर, इस देश में आबाद हुए थे। कुछ यह समझते है कि, नहीं, वे तो योरप के किसी भाग से भाग कर भारत में आ बसे थे। तीसरे विभाग के विद्वानों के भालतिलक तिलक महाराज का कहना है कि आर्य्यों की उत्पत्ति मेरु-प्रांत मे हुई। हिम-प्रलय होने पर जब वह प्रांत निवास-योग्य न रहा तब वे लोग उसे छोड कर भारत की ओर चले आये और पंजाब में आकर रहने लगे। पावगी महाशय ने इन तीनों तर्कवादों को हिला डालने की चेष्टा की है। आपने तिलक के सिद्धांत का खंडन बडी योग्यता से किया है, पर नम्रता को हाथ से नही जाने दिया। बड़े सौजन्य और आदर-भाव से आपने अपने मत को ठीक और उनके मत को भ्रांत सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न मे आपने मनमानी घरजानी नही की। जगह-जगह पर आपने पाश्चात्य और कुछ एतद्देशीय विद्वानों की सम्मतियों का भी उद्धरण किया है और ऋग्वेद की ऋचायें उद्धृत कर करके अपने मत का पुष्टीकरण किया है। आपने लिखा है कि प्रस्तुत पुस्तक मेरे बरसों के अध्ययन—इस विषय पर लिखी गई नाना पुस्तकों के आकलन और मनन—का फल है।

आपकी इस पुस्तक की प्रस्तावना के अंत मे तारीख़ है—१४ एप्रिल, १९२१। अर्थात् यह पुस्तक इसी साल के एप्रिल महीने में छप कर प्रकाशित हुई है। आपने इस पुस्तक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आदिम आर्य्य इसी आर्य्यावर्त में, सरस्वती नदी के किनारे, कहीं उत्पन्न हुए थे। अनंत काल तक यहाँ रह चुकने पर, विजिगीषा के वशीभूत होने के कारण, वे उत्तर की ओर (शायद दिग्विजय करते हुए) मेरु-प्रांत तक चले गये। उनमें से बहुत लोग वहीं बस गये, क्योंकि वह प्रांत या देश उन्हे बहुत रमणीक मालूम

हुआ। कालांतर में, हिम-प्रलय होने पर, जब वह देश बर्फ़ से ढक गया और रहने लायक़ न रहा, तब वे लोग अपनी आदिम जन्मभूमि भारत को लौट आये। तिलक महाराज के कथनानुसार आर्य्यजन उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से भारत में आये तो ज़रूर, पर इसका यह मतलब नहीं कि वे वहीं उत्पन्न हुए थे। नहीं, उनकी प्रधान शाखा तो यहीं भारत में रह गई थी। जो लोग उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में बस गये थे उनके वंशज-मात्र भारत को फिर चले आये। यही है पावगीजी की खोज का निचोड़।

इस निचोड़ के कुछ अंश के एक हिस्सेदार भी निकल आये हैं। आपका नाम है—बाबू अविनाशचंद्र दास। आपने अँगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी है—The Rigvedic India—अर्थात् ऋग्वेद में वर्णित, या ऋग्वेद के समय का, भारत। इस पुस्तक का पहला भाग भी इसी साल छप कर सर्वसाधारण के नयनगोचर हुआ है। पर पावगीजी की पुस्तक के पहले ही निकला है—अर्थात् १४ एप्रिल, १९२१ के पहले—क्योंकि पावगीजी ने दास बाबू की कितनी ही उक्तियों का उल्लेख, अपने मत के पुष्टीकरण में, अपनी पुस्तक में, किया है। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि दास बाबू की पुस्तक से पावगीजी ने उनके सिद्धांत उधार लिये हैं। नहीं, दास बाबू की खोज उनकी निज की होगी, और पावगीजी की पावगीजी की होगी। दोनों के विचार और निष्कर्ष-मात्र कहीं-कहीं लड़ गये हैं। दास बाबू की पुस्तक को कलकत्ते के विश्वविद्यालय ने बड़े महत्त्व और बड़े मोल की समझा है। उसकी महत्ता का वह इतना क़ायल हुआ है कि उसने, इसी बुनियाद पर, उन्हें पी-एच्० डी० (Ph. D.) की पदवी दे डाली है। इसी, इतनी उत्तम, पुस्तक की आलोचना उस दिन जूलाई, १९२१ के "माडर्न रिव्यू" में पढ़ कर, समालोचक की समझ पर अफ़सोस हुआ। समालोचक हैं योरप-महादेश के अंतर्गत नारवे-नामक देश के वासी

एक साहब—Sten Konow—मालूम नहीं, आपके नाम का उच्चारण कैसा है। इसी से हमने उसे ज्यों का त्यों, अँगरेज़ी ही में, लिख दिया है। दास महाशय के सिद्धांतों और मतों का ज्ञान प्राप्त करके समालोचक साहब के होश उड़ गये हैं। आपकी राय है कि दास बाबू ने अपनी यह पुस्तक लिख कर बड़े साहस का काम किया है; योरप के पुरातत्त्वज्ञ ऐसी बातें सुनने के आदी नहीं; लेखक के निष्कर्षों का आधार उनका कथन-मात्र है; इसलिए, भय्या, हम और कुछ नहीं कहते; हम तो बस इतना ही इशारा करके क़लम को क़लमदान के हवाले करते हैं। समालोचक साहब की राय का सारांश यही है।

दास बाबू की पुस्तक तो हमने देखी नहीं। पावगीजी की कृपा से उनकी पुस्तक ज़रूर देखी है और उसके पाठ से अपनी ज्ञान-कणिकाओं का यत्किंचित् पुष्टीकरण भी किया है। उनकी विचार-सरणि पर दंश देने या उनकी तर्क-परंपरा की जाँच करने की शक्ति तो हम में है नहीं। हाँ उनके मत की मोटी-मोटी बातों का उल्लेख, थोड़े में करने की चेष्टा हम किसी तरह करते है। वह इस प्रकार—

भरतखंड का प्राचीन नाम आर्य्यावर्त है। वैदिक समय में वह सप्त-सिंधु (अर्थात् सात नदियों का प्रांत) कहलाता था। यही सप्त-सिंधु-प्रदेश आर्य्यों का मूल निवासस्थान है। यही से हम आर्य्यों के पूर्वज धीरे-धीरे उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं में फैले हैं। यही से वे उत्तर-ध्रुव को गये। वहाँ, और अन्यत्र भी, उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये।

अच्छा, तो सप्त-सिंधु-प्रांत में आर्य्य लोग बसे कब या पैदा कब हुए ? इस संबध में लेखक महाशय के अनुमान सुनिए। भूस्तरशास्त्र (Geology) के वेत्ताओं ने पृथ्वी के ५ रूपांतरों की कल्पना की है। यथा—

(१) ज्वलनात्मक और वाष्पमय।

(२) द्रवात्मक, पर अत्यंत तप्त ।

(३) तप्त समुद्रमय ।

(४) समुद्रों के अंतर्गत कहीं-कहीं शुष्कता और पर्वतोद्गमवाली ।

(५) शीतल होने पर समुद्रवलयांकित होकर प्राणियों के वास-योग्य ।

इन रूपांतरों के होने में अनंतकाल बीत गया । प्राणियों के वासयोग्य होने के पहले काल को अचैतन्य-युग और पिछले काल को चैतन्य-युग कहते हैं । इसी पिछले काल में क्रमशः उद्भिज्ज, जलज, भूमिज और सस्तन प्राणियों की उत्पत्ति हुई । मनुष्य-जनन सबसे पीछे हुआ ।

पृथ्वी की इन सभी अवस्थाओं का ज्ञान प्राचीन आर्य्यों को था । ऋग्वेद की कुछ ऋचायें इसका प्रमाण हैं—

(१) अपामुपस्थे बिभृतोयदावसत् × × × (अग्निः) १—१४४—२

(२) प्राचीनान् पर्वतानदृंहत (इंद्र)—२—१७—५

(३) येन × × पृथिवी च दृढा—१०—१२१—५

भूमि के रहने योग्य हो जाने पर इंद्र ने उसे मनु को दे दी (अहं भूमिमददामार्याय, ४—२६—२)

अब, ऋग्वेद के इन मंत्रों का क्या अर्थ होता है, अथवा उनका वही अर्थ होता है या नहीं जो पावगीजी करते है, इस पर विचार करना और इसका निश्चय करना वेदज्ञ विद्वानों का काम है । हमारा काम तो केवल पावगीजी के कोटि-क्रम का उल्लेख-मात्र कर देना है; क्योंकि हमारी पहुँचही वहाँ तक नहीं ।

ऋग्वेद से अधिक पुरानी पोथी और कोई नहीं; और चूँकि ऋग्वेद में लिखा है कि इंद्र ही ने पहले पहल पृथ्वी को दृढ़ अर्थात् रहने योग्य बनाया; अतएव आर्य्य भी अवश्य ही पृथ्वी के उसी दृढीभूत

भाग मे पहले पहल पैदा हुए होंगे। क्योंकि और भाग तो उस समय मनुष्य के वास-योग्य थे ही नहीं। यह भाग था सरस्वती नदी का तट अथवा आसमंताद्भाग। क्योंकि ऋग्वेद मे लिखा है—

त्वे विश्वा सरस्वती श्रितायूंषि देव्याम्

२,४१,१७

इसमें "श्रितायूंषि" पद ही इस कल्पना का प्राण है। उसका अर्थ है, सरस्वती का वह भाग जिसमें मनुष्य के प्राणधारणोपयोगी अन्नों का संचय उत्पन्न हुआ अर्थात् जो समस्त वंशों, आयुष्यों, या प्राणों का आश्रयस्थान बना। पावगीजी का मत है कि अन्न ही से मनुष्य जीवन धारण कर सकता है (शाक, मांस, दूध से नहीं !) इस कारण जहाँ पहले पहल अन्न उत्पन्न हुआ वहीं पहले पहल मनुष्यों की भी उत्पत्ति हुई होगी। लिखा भी है—

"अन्नाद् भूतानि जायन्ते" × × × "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" (तै० उ० २—२)।

सचेतन प्राणियों का प्रादुर्भाव पहले पहल पंजाब के उस प्रांत मे हुआ जहाँ नमक की पर्वतमाला है, यह बात भूस्तरशास्त्र के बड़े-बड़े ज्ञाताओं ने क़बूल की है और यह प्रांत सरस्वती-नदी ही का प्रांत है। क्योंकि उस ज़माने में, इन शास्त्रज्ञों के कथनानुसार, भूतल में और कोई देश, प्रांत या स्थल मनुष्य के रहने योग्य ही न था। कहने की ज़रूरत नहीं, पावगीजी की राय है और यह शायद सच भी है, कि पुरानी, पर आज-कल लुप्त हुई, सरस्वती नदी पंजाब ही से बहती हुई प्रयाग तक आई थी। इसी सरस्वती के आस-पास के भूभाग को ऋग्वेद ने देवनिर्म्मित देश ("योनि देवकृतम्" ३-३३-४) बताया है। मनुस्मृति में भी लिखा है—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्म्मित देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते—२,१७

वैदिक और स्मृतिकाल में लोग सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच ही के भाग को ईश्वरनिर्म्मित समझते थे और इसी को वे ब्रह्मावर्त कहते थे। जब भूस्तरशास्त्री कहते हैं कि यही प्रांत पहले पहल मनुष्यों के वासयोग्य हुआ और वेद, पुराण, स्मृति-ग्रंथ सभी इसे देवनिर्म्मित देश कह रहे हैं तब इसे छोड़ और कहाँ पहली मनुष्य-सृष्टि हो सकती है?

वेबर, म्यूर, मोक्षमूलर आदि का मत है कि आर्य्य लोग कहीं बाहर से—योरप के किसी प्रांत या हिंदूकुश के आस-पास के किसी प्रदेश से—भारत में आये और यहाँ के मूलनिवासियों को जीत कर यहाँ के अधीश्वर हो गये। पर पावगीजी का कथन है कि इस मत के पोषक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण इन लोगों के पास नहीं। उलटा इन्हीं में से कई विद्वानों का मत है कि आर्य्यों के आदि-स्थान का ठीक-ठीक पता ज्ञात ही नहीं। फिर भला, इनकी बात कैसे मानी जा सकती है? अजी, मनुष्य-सृष्टि के आरंभ में और कोई भू-भाग मनुष्यों के रहने योग्य था भी? फिर हमारे पूर्वज और कहीं से कैसे कूद पड़े? यदि और कहीं से आते तो जैसे हम लोगों के पूर्वजों ने ऋग्वेद में और नाना प्रकार की बातें लिखी हैं वैसे ही उस बात का भी उल्लेख कर देते। स्पीजल साहब ने पारसियों की धर्म्मपुस्तक अवस्ता का अनुवाद किया है। उसके उपोद्घात में उन्होंने लिखा है कि पारसी, ग्रीक, रोमन, जर्मन इत्यादि जातियाँ आर्य्यों ही के कुटुंब की शाखायें हैं। अर्थात् आर्य्य ही आर्य्यावर्त से जाकर उन देशों में जा बसे हैं और वंश-विस्तार किया है। स्पीजल के लेख का मूल अंश इस प्रकार है—

"India was the fatherland of the Indo-Germanic races From that country the individual branches of that stock migrated westward, and last of all the Iranians, who continued to dwell in the immediate vicinity of this original country, which henceforward remained in the sole possession of a

single race, the Indians ✻ ✻ ✻ India is the craddle, the Indian language (the Vedic Sanskrita) is the mother tongue of all the Indo-Germanic nations"

हमारे पूर्वज आर्य्य ही प्राचीनतम मनुष्य थे। वही आर्य्यावर्त से अन्य देशों को गये। और कहीं से वे भारतवर्ष में नहीं आये। आते तो अपने आदि जन्मस्थान का कुछ तो हवाला हमारी प्राचीन पोथियों में मिलता। पर वहाँ तो उलटा यही लिखा है कि पहले पहल इसी देश के सरस्वती-प्रांत को ईश्वर ने बसने योग्य बनाया और वहाँ उसने या इंद्र ने सरस्वती का भू-भाग मनु को दे डाला। इंद्र देवता का नाम और किसी जाति या देश के इतिहास में नहीं मिलता। वह हमारे ही पूर्वजों का कल्पित देवता है। जब उसके विषय में ऋग्वेद में यह लिखा है कि जल-वृष्टि और प्रकाश आदि का प्रादुर्भाव करके मनु को उसने सरस्वती-प्रांत दे डाला तब उसका यही मतलब हो सकता है कि मनुही मनुष्यों के बाबा आदम थे और वे यहीं पैदा हुए थे। मनु को बाबा आदम न समझिए तो आर्य्यों के प्रथम पूर्वजों का समुदाय तो समझना ही पड़ेगा, क्योंकि विकाश-सिद्धांत के अनुसार अपने से निम्नश्रेणी के किसी प्राणी या प्राणियों से पहले पहल यदि एक मनु न पैदा हुए होंगे तो एक ही साथ, या कुछ काल आगे पीछे, अनेक मानव अवश्य ही उत्पन्न हुए होंगे। ऋग्वेद में जहाँ-जहाँ यह उल्लेख है कि इंद्र ने पृथ्वी को दृढ़ किया, इंद्र ने जल बरसाया, इंद्र ने प्रकाश का प्रदान किया, इंद्र ने भूमि का दान अपने प्यारे मनु को दिया तहाँ-तहाँ यही समझना होगा कि भूमि का दान लेने और जल-वृष्टि तथा प्रकाश से लाभ उठानेवाला कम से कम एक मनुष्य अवश्य ही उत्पन्न हो गया होगा। उसी को आप मनु अथवा मानवों का समुदाय समझिए।

तिलक महाराज ने अपनी एक अँगरेज़ी पुस्तक (Arctic Home in the Vedas) लिख कर पाश्चात्य विद्वानों के आर्य्यों-

त्पत्ति अथवा आर्य्यागमन-विषयक मत को बेतरह झकझोर डाला। यह पुस्तक निकले बहुत वर्ष हो चुके। इसके प्रकाशित होने पर प्राच्य-विद्या-विशारदों के मंडल में प्रचंड तूफान सा आ गया। आलोचनाओं पर आलोचनायें निकलीं। खंडन-मंडन का बाज़ार बेतरह गरम हो उठा। अनुकूल आलोचनायें ही अधिक हुईं। पर प्रतिकूल भी हुईं। तिलक के मत के खंडन में दो एक पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। दक्षिण के एक मदरासी महाशय ने तो अपने अँगरेज़ी लेखों द्वारा तिलक महाराज के मत पर बड़ा ही निष्करुण आक्रमण किया। उन्होंने साफ़-साफ़ यहाँ तक लिख दिया कि तिलक महाराज ने अपने मत के पोषक प्रमाण तो ऋग्वेद से ले लिये हैं, पर घातक प्रमाण जानबूझ कर छोड़ दिये हैं। तिलक महाराज का मत यह है कि आदिम आर्य्यों का प्राथमिक वसतिस्थान उत्तरी मेरु-प्रांत था। क्योंकि ६ महीने की रात और ६ महीने के दिन का जो वर्णन ऋग्वेद में है वह उनके उसी प्राचीन वासस्थान का सूचक है। इतना बड़ा दिन और इतनी बड़ी रात सिवा ध्रुव-प्रदेश के अन्यत्र नहीं। उन्होंने अपने इस मत के प्रतिपादन में और भी ऐसे ही ऐसे प्रमाण, या विपक्षी विद्वानों की समझ के अनुसार प्रमाणाभास, दिये हैं। इसकी प्रतिकूलता पहले भी बहुत कुछ की जा चुकी है। अब पावगीजी भी इन्हीं विपक्षियों के तरफ़दार बन बैठे हैं, क्योंकि बिना तिलक महाराज के मत को ठिकाने लगाये उनका मत कैसे ठहर सकता। पावगीजी का कहना है कि आर्य्यों का कुछ समुदाय उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से भारत में आया ज़रूर। पर वह समुदाय आदिम समुदाय न था। आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न होकर, ऋद्धियों और सिद्धियों को प्राप्त करके, सभ्यता की बहुत ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर, देश-विजिगीषा की इच्छा से—अपने बाहुओं की कडू शमन करने के इरादे से—आर्य्य लोग जैसे और-और देशों तक पहुँच गये थे और वहीं उन्होंने

अपने उपनिवेश स्थापित किये थे वैसे ही उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में भी वे जा बसे थे। पावगीजी के शब्द ये हैं "भारतीय आर्य्यों ने तीसरे युग के अंत और हिमयुग के पूर्व (अर्थात् कोई ढाई लाख वर्ष पहले), उत्तरी ध्रुव-प्रदेश का मार्गावलंबन कर, वहीं अपने उपनिवेश, अपनी मनमानी जगहों में, स्थापित कर दिये थे" (मराठी-पुस्तक, पृष्ठ ११६) आपने नामी-नामी शास्त्रियों और विद्वानों के वचन उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि पहले उत्तरी ध्रुव के आस-पास की आबोहवा बड़ी अच्छी थी। वहाँ प्रायः वसंत ऋतु ही बनी रहती थी। इसी से उस प्रांत ने समागत आर्य्यों का मन मोह लिया और वे वहीं के हो रहे।

तिलक महाराज की आज्ञा है कि हिम-प्रलय होने पर आर्य्य लोगों ने जब देखा कि उत्तरी ध्रुव-प्रांत में अब नहीं रह सकते तब वे दक्षिण की ओर चले और आर्य्यावर्त में आ बसे। पावगीजी कहते हैं, ठीक। आप यह तो बताइए कि जिस ऋग्वेद में उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है उसी में अतिरात्र सोमसत्रों का भी वर्णन है या नहीं? क्या आर्य्यों का कोई भी प्रधान धर्म्मानुष्ठान बिना सोम के हो सकता था? सोमपान करके ही आर्य्य शक्तिमान और बलवान् हुए थे और उसी की बदौलत इंद्र ने बल-प्राप्ति करके घोर अंधकार का नाश किया था तथा और भी कितने ही अलौकिक कार्य्य किये थे। तो क्या सोम उत्तरी ध्रुव में भी कहीं पैदा होता था या अब होता है? यदि किसी के पास कुछ भी इसका प्रमाण हो तो आवे और अपने प्रमाण का प्रदर्शन करे। आप वेद का, निरुक्त का, तथा अन्य प्राचीन साहित्य का अवलोकन कर जाइए। आपको यही लिखा मिलेगा कि सोम का उत्पत्ति-स्थान मुंजवान् किंवा मूजवत, या मौंजवत पर्वत है। यथा—

सोमस्य मौंजवतस्य भक्षः —— ऋग्वेद १०-३४-१

यह मुंजवान् पर्वत हिमालय की एक चोटी का नाम है। वहाँ से धीरे-धीरे यह सोमलता पंजाब (सप्त-सिंधु-प्रदेश) में भी होने लगी। लोग इसका व्यापार करने लगे। नावों और बैलगाड़ियों पर लाद कर इसे दूर-दूर ले जाने लगे। इसे पैदा करना और बेचना कुछ लोगों का पेशा हो गया। अब बताइए, यदि आर्य्य लोग पहले उत्तरी ध्रुव के आस-पास, या मध्य-एशिया में, या योरप के किसी और खंड में रहते थे तो सोम उन्हे कैसे और कहाँ से मिलता था। और बिना सोम के उनका एक भी धार्म्मिक कृत्य न हो सकता था। अतएव जो लोग आर्य्यों का आगमन मेरु-प्रांत या मध्य-एशिया या और किसी पश्चिमी भू-भाग से बताते हैं वे बेपर की उड़ाते हैं। उनका कथन निःसार, निराधार और विकार-विजृंभण-मात्र है। तत्त्व उसमें कुछ भी नही। आर्य्य, यहीं, आर्यावर्त ही में, सरस्वती-नदी के प्रांत में—पंजाब की लवण-पर्वतश्रेणियों के इधर-उधर—पैदा हुए थे। वे और कहीं से यहाँ नहीं आये। यहाँ हज़ारों वर्ष रह चुकने पर वे चारों तरफ फैले हैं और उत्तरी-ध्रुव तक जाकर वहाँ बसे हैं। ध्रुव-प्रांत में हिम-प्रलय होने पर, अपने आदि वासस्थान का स्मरण करके, जो वृंद आर्य्यों का वहाँ बस गया था वह फिर आर्य्यावर्त को लौट आया। पावगीजी का मत यही है और इसके पोषक समझ कर प्रमाण भी आपने दिये हैं। आप तिलक महाराज के मत के क़ायल नहीं। उस मत की उन्मूलक दलीलों की भी उद्भावना आपने जी तोड़ कर की है। एक जगह आप लिखते है—

"रा० रा० तिलक ने जो प्रमाण दिये हैं वे बिलकुल ही पंगु है। उन्हे उन्होंने केवल अपने मत के पुष्टीकरण के लिए दिया है। क्योंकि एक ही ग्रंथ में, भिन्न-भिन्न प्रसंगों के अनुसार, उन्होंने अपने मत के पोषक असंबद्ध, जुदा-जुदा और केवल विसंवादी विचार प्रकट किये है। यह बात (उनके लेख से) स्पष्ट प्रकट होती है।"

अस्तु । प्राचीन ईरानियों अर्थात् पारसियों के भी पूर्वज आर्य्य ही थे । उनके और हमारे पूर्वज पहले सप्तसिंधु-प्रांत ही मे रहते थे । कालांतर में धर्म्म-विरोध उत्पन्न हुआ । इस कारण उनमें परस्पर लड़ाइयाँ होने लगी । फल यह हुआ कि हमारे पूर्वजों ने पारसियों के पूर्वजों को इस देश से निकाल बाहर किया । वे लोग यहाँ से भाग निकले । इसका उल्लेख पारसियो की पुस्तक अवस्ता में भी है और ऋग्वेद में भी इसका आभास मिलता है । अवस्ता में सप्त-सिंधु (हप्तहिंदु) का ही नहीं, पंजाब की सातों नदियों तक के नाम पाये जाते हैं । पारसियों और आर्य्यों के किसी समय एकत्र रहने का यह पक्का प्रमाण है । इस देश से निकाले जाने पर पारसियों के पूर्वज ईरान गये । पर वहाँ भी उनके विपक्षी आर्य्यों ने उन्हे चैन न लेने दिया । वे वहाँ से भी भागे और मेरु-प्रांत में जा पहुँचे । जब वहाँ हिम-प्रलय हुआ तब उन बेचारों को भी वहाँ से अपना डेरा-डंडा उठाना पड़ा । पारसियो के पूर्वजों का भी परिचय सोमयाग आदि क्रिया-कलापों से था । अतएव यह निर्विवाद है कि वे लोग भी हिम-प्रलय के पहले ही ध्रुव-प्रांत में पहुँचे थे और वहाँ भारतीय आर्य्यों के साथ रहे थे । प्रलय होने पर वे सब फिर नावो पर सवार होकर हिमालय पर्वत की ओर भाग आये और उत्तरगिरि पर आकर नावों का लंगर डाला (तेनैतमुत्तरगिरिमधिदुद्राव—शतपथ ब्राह्मण, १-८-१-५) जल-प्रलय होने के पहले, बहुत काल तक, हमारे पूर्वज यहीं आर्य्या-वर्त्त मे रह चुके थे और यहीं से "पारसीक आर्य्य और कुछ भारतीय आर्य्य बीरखड (बाक्ट्रिया) और ईरान इत्यादि देशों से होते हुए उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में जा बसे थे ।" यही पावगीजी के परिश्रम-दधि से प्राप्त हुआ नवनीत है ।

पावगीजी ने भूस्तरशास्त्रज्ञों की सम्मति के आधार पर लिखा है कि हिम-प्रलय या हिमयुग का प्रारंभ हुए अंदाज़न २ लाख ४० हज़ार वर्ष

हो चुके। यह प्रलय या युग १ लाख ६० हज़ार वर्ष तक रहा। इसके बाद कहीं प्रलय-स्थानीय भूभाग मनुष्य के निवास-योग्य हुआ। अर्थात् इस बात को हुए कोई ८० हज़ार वर्ष हो चुके। बात यह कि दो ढाई लाख वर्ष के पहले ही हमारे और पारसियों के पूर्वज मेरु-प्रांत में पहुँच गये थे और वहाँ रहने लगे थे। सो हिमयुग के पहले अर्थात् तीसरे ही युग में भारतीय आर्य्य आर्य्यावर्त्त के सप्त-सिंधु प्रांत में आबाद हो चुके थे, जिसको कि दस पाँच हज़ार नहीं, लाखों वर्ष हो चुके। उसी तीसरे युग में मानव प्राणी का भी उदय हुआ था। कहाँ? पंजाब के लवणागिरि के इतस्ततः उसी सरस्वती नदी के प्रांत में। अब आपही सोचिए कि हमारा ऋग्वेद, जिसके अवलंब पर ये सब बातें लिखी गई हैं, कितना पुराना होगा?

एक बात बहुत चेष्टा करने पर भी हमारी समझ में नहीं आई। जिस समय ईरानियों के और हमारे पूर्वज आर्य्य बहकते हुए उत्तर को चले जाते थे उस समय उत्तरी ध्रुव के इधर क्या कोई भी देश बसने योग्य उन्हे नहीं मिला। विना रेल, सड़क या अच्छे रास्ते के वे हज़ारों योजन दूर घोर और घने जंगलों और जलाशयों को पार कैसे करते चले गये! पावगीजी को कुछ प्रमाण ऐसे भी देने चाहिए थे जिनसे यह सूचित होता कि वे लोग क्यों और किस तरह उत्तर दिशा के छोर तक चले ही गये और वहीं जाकर दम लिया। उन्हें यह भी बताना था कि पारसियो के जिन पूर्वजों को आर्य्यों ने सप्तसिंधु-प्रदेश से मार भगाया था और जो उन्हे चोर, दास, राक्षस की पदवी से पूजते थे उन्हीं आर्य्यों के वंशजो या बधुओं के साथ ("भारतीय आर्य्याः समवेत च") पारसियों के पूर्वज उत्तर-ध्रुव-प्रदेश मे रहे क्यों और रह सके कैसे? पर महाजनों की बात काटना या उसमें शंका करना हम जैसों के लिए अनधिकारचर्चा होगी। इस कारण इस विषय में हम और कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते।

विवाह-विषयक विचार-व्यभिचार

कुछ समय हुआ, हमको एक छोटी सी पुस्तक डाक से मिली। उसे गिरगाँव (बंबई) की मनोरंजक ग्रंथ-प्रसारक मंडली ने भेजा था। उसकी भाषा मराठी और नाम—"रिकामपणाची कामगिरी"—है। नाम देख कर हमने उसे उठा कर एक तरफ़ रख दिया। कहा, जब इसके लेखक ही की सिफ़ारिश है कि निकम्मे बैठने पर ही इसे कोई पढ़ने की तकलीफ़ गवारा करे तब अभी पढ़ने की क्या ज़रूरत? कभी निकम्मे बैठेंगे तब देखा जायगा।

दैवयोग से वैसा मौक़ा एक दिन आही गया और हमने पुस्तक पढ़ डाली। पढ़ने से मालूम हुआ कि लेखक ने पुस्तक को वैसा नाम देकर पढ़नेवालों को धोखा दिया। और ज़रूरी काम छोड़ कर, या वैसे काम करते-करते ऊब जाने पर भी, पुस्तक पढ़ने योग्य है। क्योंकि पुस्तक के हँसोड़ लेखक ने बड़ी ही मनोरंजक और विनोदात्मक बातें लिख कर अपने समाज की हानिकारिणी रूढ़ियों के सबंध मे ख़ूब गहरा मज़ाक ही नहीं उड़ाया, काफ़ी शिक्षा भी दी है।

पुस्तक में दो विषय प्रधान है। एक तो महाराष्ट्र-प्रांत में प्रचलित वैवाहिक प्रथाये। दूसरे, सामयिक पुस्तकों और पत्रों में प्रकाशित होनेवाली कविताओं के कवियों के कविता-कलाप। लेखक ने इन दोनों की ख़ूब ही ख़बर ली है। उसने कहीं-कहीं पर ऐसी गहरी चुटकी ली है और ऐसी आलंकारिक भाषा लिखी है कि पढ़ कर तबीयत फड़क उठती है।

महाराष्ट्र-प्रांत की वैवाहिक रीतियाँ अपने प्रांत की रीतियों से, कितने ही अंशों में, पृथक् हैं। तथापि बहुत सी बातें मिलती भी हैं।

लेखक ने अपने प्रांत की रूढ़ियों—हानिकारिणी रूढ़ियों—की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। उसके कोई-कोई व्यंग्य मर्मस्थलों पर कड़ी चोट पहुँचानेवाले हैं। उसके इस विषय के लेख की प्रेरणा ही से हम भी गोत्र और जन्मपत्र-विचार-विषयक बातों का अत्यल्प निदर्शन यहाँ पर करना और यत्र-तत्र उक्त लेखक ही को अपना उत्तमर्ण बनाना चाहते हैं। इस प्रांत में, विशेष करके कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों मे, लड़के-लड़की का विवाह-निश्चय करते समय, प्रधानतः पाँच बातों का विचार किया जाता है—(१) गोत्र, (२) जन्मपत्र, (३) कुल-शील, (४) वर और (५) दहेज़ या ठहरौनी। यह विवाह-विषयक पंचांग-विचार है।

इनमें से विचार करने की पहली बात यह है कि यह गोत्र क्या चीज़ है। पुरानी पुस्तकें देखने, संस्कृत-कोशों के पन्ने उलटने, और इस विषय पर लिखे गये कुछ विद्वानों के लेखों का परिशीलन करने से मालूम होता है कि आदि में गोत्र शब्द का अर्थ था—गाये-बछड़े बाँधने या रखने का बाड़ा, गोष्ठ या गोशाला। बहुत प्राचीन काल मे बड़ी-बड़ी बस्तियाँ या नगर कम थे। जंगल बहुत था। लोग पशु अधिक पालते थे। उनके चरने का सुभीता देख कर वे किसी स्थल-विशेष में बस जाते थे। वहीं अपने पशुओं के लिए बाड़े बना लेते थे। जिसके पास पशुओं की संख्या अधिक होती थी उसी के नाम से वह जगह प्रसिद्ध हो जाती थी। अनुमान से मालूम होता है कि गोत्रप्रवर्त्तक वशिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज आदि ऐसे ही थे। उनकी देखादेखी और लोग भी, पीछे से, वहाँ जाकर बस जाते थे। पर वे सब एकही वंश के न होते थे। तथापि वे भी उस प्रधान पुरुष के नाम से अपना परिचय देते थे। अगर कोई उनका पता पूछता था तो वे कहते थे—हम वशिष्ठ-गोत्र के हैं, अथवा हम कश्यप-गोत्र के हैं, अथवा हम शांडिल्य-गोत्र के हैं।

इसका मतलब सिर्फ़ इतना ही था कि ये लोग भी वहीं रहते थे जहाँ वशिष्ठ और कश्यप आदि ऋषि, अपनी-अपनी गायें लेकर, रहते थे। यह मतलब न था कि ये भी उन्हीं ऋषियों के वंशज थे। यदि किसी तिवारी ने अपने कुल के नामानुसार कोई गाँव बसाया और उसका नाम तिवारीपुर रक्खा तो इससे क्या यह बात साबित हो सकती है कि वहाँ उसके वंशजों के सिवा और कोई रहता ही नहीं ? ऐसे कितने ही तिवारीपुर और पाँड़ेपुर इस प्रांत में निकलेंगे जहाँ तिवारियों और पाँड़े लोगों के सिवा और भी अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते हैं। पर वे सब सगोत्रीय नहीं।

पुराने ज़माने में जहाँ पर दो चार घर पास-पास होते थे वहाँ उन लोगों मे, भिन्न कुल के होने पर भी, कुटुंबिभाव जागृत हो जाता था। वे लोग परस्पर एक दूसरे को भाई, चचा, बेटा, बेटी इत्यादि समझने लगते थे और वैसा ही व्यवहार भी उनके साथ करते थे। देहात मे यह बात अब भी ऐसी ही पाई जाती है, यद्यपि कुटुंब-भाव अब वैसा नहीं। उस समय जो जिसे मुँह से भाई या चचा कहता था उसकी लड़की या बहन से विवाह कर लेना अधर्म समझता था। इस दशा में एक गाँव, या एक गोत्र (गोशाले)-वाले यदि वहीं रहनेवालों से विवाह-संबंध न करें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर क्या वही बात आज-कल भी चरितार्थ है ?

एक गोत्र या एक गाँव में रहनेवालों को वहाँ से अलग हुए हज़ारों वर्ष बीत गये ; उन लोगों के उस पुरातन कुटुंब-भाव का सर्वथा तिरोभाव हुए भी हज़ारों वर्ष हो गये ; पर अंधपरंपरा उस पुरानी रूढ़ि का पिंड नहीं छोड़ती। उनमें उस समय की और बातें तो प्रायः सभी समूल नष्ट हो गईं ; पर गोत्र की विस्मृति नहीं हुई। यह गोत्र-स्मृति आज-कल ब्राह्मणों मे विवाह के समय कितना विघ्न उपस्थित करती है, यह बात भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। दस हज़ार

वर्ष पहले वामदेव के गोशाले के इर्द-गिर्द अपनी गाये रखनेवालों के वशज, वही रहनेवाले अन्य लोगों के दूर-दूर बिखरे हुए अधस्तन वशधरों से सगोत्रता जोडते और उनके लडकों, लडकियों को अपने ही वंश में उत्पन्न बताते हैं !

फिर सगोत्रता ही का झगडा हो, सो बात नहीं। भिन्न-गोत्रता भी कही-कहीं बचानी पडती है। कारण यह बताया जाता है कि अमुक-अमुक गोत्रों मे परस्पर पटती नहीं। गोत्रों-गोत्रों मे जब न पटती थी तब न पटती थी। अब न पटने का क्या कारण ? करोड़ों गायें बदले मे देने के लिए तैयार होने पर भी विश्वामित्र को वशिष्ठ ने जब अपनी मनों दूध देनेवाली गाय न दी तब विश्वामित्र ने डाका डाल कर वह गाय वशिष्ठ से छीन ली। इस दशा मे पारस्परिक शत्रुता का स्मरण करके इन दोनों के गोत्रवालों ने यदि आपस में विवाह-संबंध न करने की प्रतिज्ञा कर ली तो ठीक ही किया। ऐसे ही और गोत्रवालों मे भी इसी तरह का वैर-भाव हो गया हो और उन्होंने आपस मे संबंध जोडना छोड़ दिया हो तो तब उसका कारण था। अब, अनंतकाल बीत जाने पर भी, यदि आप कहे कि अमुक गोत्रवालों से हमारे गोत्र का मेल नहीं खाता तो क्यों ? बात क्या है ? किस वैर-भाव का स्मरण आप करते हैं ? बताइए तो। कारण इसका केवल अंधपरंपरा ही है या और कुछ ?

न पटने की तो यह बात हुई। एक बात और भी बड़े मज़े की है। कुछ गोत्रवाले कुछ अन्य गोत्रवालों को अपनी बिरादरी का बताते है। अतएव परस्पर शादी-ब्याह नहीं करते। कल्पना कर लीजिए कि किसी के मत में कश्यप और शांडिल्य गोत्रवालों में भाईचारा है। ऐसों से प्रार्थना इतनी ही है कि आप इस तरह के भाईचारे को जब मानते हैं तब अपने परम पूज्य पुराणों की आज्ञा को भी शिरोधार्य समझते ही होंगे। अच्छा तो कृपा

करके ब्रह्माजी के मानस-पुत्रों को याद कीजिए। फिर इस बात की याद कीजिए कि उन्हीं मानस-पुत्रों की कृपा से हम, आप और अन्य सभी लोग अस्तित्व में आये हैं। इस दशा में ब्रह्मा बाबा की संतान होने के कारण हम सबको अब अन्य जातियों या अन्य देश-वासियों ही से विवाह-संबंध करना चाहिए। अब तक जो भूल हुई उसका प्रायश्चित्त कर डालिए और बिगडी हुई बात को अब तो बना लीजिए।

राम राम करके, इस गोत्र-विषयक बादरायण-संबंध से, बड़ी दौड़-धूप के बाद, किसी तरह छुट्टी मिलने पर जन्म-पत्र मिलाने का मसला उपस्थित हो जाता है।

गोत्र-विषयक वैर-भाव या सख्य-भाव की बहुत पुरानी याद हमें सिर्फ़ विवाह-संबंध करने के समय ही आती है। ईसवी सन् के सात हजार वर्ष पहले कौशिक गोत्र के भीम-भल्लट राजा ने मेरे तत्कालीन पूर्वज मल्हण की "साफ़ी" छीन ली थी। इस कारण भल्लट के परवर्ती समस्त वंशज मेरे शत्रु हैं। अथवा मेरे पूर्वज वामदेव और आपके पूर्वज वशिष्ठ हार्दिक मित्र थे। इस कारण हम तुम दोनों ही दिली दोस्त हैं। इस तरह के विशुद्ध तर्क से जैसे गोत्र-मेलन के विषय में काम लिया जाता है, ठीक वैसे ही जन्म-पत्र-गत ग्रहों के विषय में भी किया जाता है। आकाशस्थित ग्रह हम लोगों से करोडों कोस दूर हैं। वे परस्पर भी एक दूसरे से करोड़ों कोस दूर हैं। पर विवाह-कार्य्य में ऐसे ही ग्रहों का मेल मिलाने की बहुत बडी ज़रूरत पड़ती है। गवर्नमेंट ख़िलाफ हो, कुछ परवा नहीं। पास पडोस का कोई राजा या रईस शत्रुता रखता हो, कुछ परवा नहीं। अपने रिश्तेदार और बंधु-बांधव अपने से बिगड़े हों और प्रस्ताव किये गये विवाह को बुरा समझते हों, कुछ परवा नहीं। विवाह के समय अपने रुठे हुए पडोसियों

के उपद्रव मचाने का पूरा डर हो, कुछ परवा नहीं। परवा, और बहुत बड़ी परवा होती है तो एक कोटि कोस दूर, आकाश में बैठे हुए, सूर्य-चंद्रमा और राहु-केतु आदि ग्रहों की !

इन ग्रहों की आपस में लड़ने-झगड़ने की शक्ति इतनी अधिक है—ये लोग एक दूसरे पर छापा मारने की इतनी अधिक तैयारी मे रहते हैं—कि हम हिंदू लोगों को भी इस विषय में इनसे सबक सीखना चाहिए ! ऊपर से देखने मे तो इन लोगों के पारस्परिक झगड़े-फिसाद का कोई कारण ही नहीं देख पड़ता। हमारी पृथ्वी तो वायु-मंडल के रूप मे एक चादरा भी ओढ़े रहती है। उसके पुत्र कुज (मंगल) के पास भी इसी तरह की एक डुपटिया है। पर और लोग—और ग्रह—इतने कंगाल हैं कि उनके पास ओढ़ने-बिछाने तक का सामान नही। लड़ाई, झगड़े प्रायः परस्वापहरण के लिए अथवा ईर्षावश ही हुआ करते हैं। पर इन कारणों का यहाँ सर्वथा अभाव है। हाँ काले रंग के और नंगे बदन के शनि ने अल-बत्ते, अन्न-वस्त्र की परवा न करके, हम लोगों ही की तरह, विपत्ति के समय काम आने के लिए, अपने हाथों मे अथवा बदन के इर्द-गिर्द दो कड़े अवश्य ठोंक रक्खे हैं। पर इन लोगों के पास लड़ाई करने और एक दूसरे पर शस्त्र चलाने के साधन हों या न हों, हमारे ज्योतिषी, श्रीमान् पिट्टू 'डित, जन्म-पत्र खोलते ही, इन ग्रहों की पैतड़ेबाज़ी, दाँव-पेच और मार-काट की रोमांच-कारिणी कथा धड़ाधड़ सुनाने लगते हैं। इससे विवाह तभी सकुशल हो सकता है और वधू-वर भी तभी सुख से रह सकते हैं जब इन "मरकहे" ग्रहों की पूर्ण कृपा संपादित कर ली जाय। और, हम लोग पंडितजी की कथा का अक्षर-अक्षर सच समझते हैं !

हमारे पूर्वज लगध, जैमिनि, गर्ग, पराशर आदि भी बड़े विलक्षण बुद्धिमान् थे। उन्हे इस बात की ख़बर थी कि उनके ये लाडले ग्रह

बडे लड़ाके हैं। बिना लड़े-भिडे इन्हे कल ही नही। लगध बाबा और उनके भाईबंद आठ कनौजिए और नौ चूल्हेवाली रीति के कायल थे ही। इसलिए उन्होंने कहा, लाओ, इन ग्रहों के रहने के लिए जन्म-पत्र-नगरी में जुदा-जुदा और दूर-दूर बारह घर बना दे। ऐसा करने और हर घर की हदबंदी कर देने से आपस में लडने-झगडने का कोई कारण ही न रह जायगा। सब अलग-अलग रहेंगे। जो लोग कुछ अधिक लडाके हैं वे दो एक घर बीच में ख़ाली छोड कर ज़रा और दूर बस जायँगे। इससे उन्हें दूसरे घरवालों पर नज़र डालने या उनकी बातें सुन लेने का मौका ही न मिलेगा। फिर ये लडेंगे क्यों? यही सोच-समझ कर वे आठ कनौजिएवाली प्रवृत्ति की सीमा के भी बाँस भर और आगे निकल गये। वहाँ आठ के लिए नौ चूल्हे दरकार होते हैं, यहाँ नौ ग्रहों के लिए बारह घर उन्होंने बना दिये। पर ग्रहों ने इन बुड्ढों की सारी उस्तादी पर हरताल लीप पोत कर उन्हें काठ का उल्लू बना दिया। अलग-अलग रहना तो दूर वे दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, एक ही एक घर में घुस पडने लगे और बाक़ी के घरों को उजाड़ देने लगे। ऐसी गति को प्राप्त होने पर जन्मांग-नगर उसी तरह शोभा-संपन्न दिखाई देने लगे जिस तरह कि उजड़े हुए भर-हुत, साँची, कोसम (कौशांबी), देवगढ़, आदि प्राचीन नगर दिखाई देते हैं। हाँ, यदि कभी लगध और पराशर बाबा की लागधी और पाराशरी नीति का अनुसरण करके, उनकी आत्माओं को प्रसन्न करने की इच्छा हुई तो, छठे छमासे वे नव-ग्रह एक-एक अलग-अलग घर में भी जा बैठते हैं। उन्हे इस स्थिति मे अलग-अलग रहते देख मरी और मंसूरी, शिमला और नैनीताल अथवा कानपुर की सिविल लाइंस में, अपने-अपने बँगले में, अलग-अलग रहनेवाले अँगरेज़ों और उनके चेले-चाटी मनचले हिंदुस्तानियों की आबादी का नज़ारा नज़र के सामने आ जाता है।

पर कहीं आप यह न समझ लीजिए कि अलग-अलग रहने पर ये बिगड़े दिल ग्रह दूसरों के छल-छिद्र नहीं देखते, दूसरों पर नज़र नहीं डालते, दूसरों के घर नहीं झाँकते । ऐसा न करना तो इनकी छठी में लिखा ही नहीं। चाहे ये अलग रहे, चाहे दो चार एक ही में, परस्पर एक दूसरे पर ताक-झाँक किये विना इनसे रहा ही नहीं जाता। दूर-दूर रहने पर भी पूरी न सही ; त्रिपाद, द्विपाद अथवा एकपाद-नामक अपनी तिरछी नज़र से ये एक दूसरे को देखना कदापि नहीं छोड़ते। वधू-वर के भावी संगम के समारंभ पर भला ऐसे ग्रहों की तीव्र दृष्टि न पड़ेगी, यह क्या कभी संभव हो सकता है ? पर ज्योतिषीजी महाराज इसी असंभव बात को संभव कर दिखाने की चेष्टा किया करते हैं। यदि साधारण चेष्टा में वे विफल-मनोरथ हुए तो पूजापाती चढ़ाने अथवा मुँह मीठा कर देने पर वे ज़रूर ही सफल हो जाते हैं और ग्रहों की तिरछी से भी तिरछी नज़र को, किसी न किसी तरह, तीर की तरह सरल कर देते हैं। सो ठीक ही है।

"मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्"

ग्रहों के शत्रु मित्र-भाव भी अनादिसिद्ध हैं। त्रिकाल मे भी वे बाधित नहीं। प्रमाण दरकार हो तो एक उदाहरण लीजिए। गुरु-पत्नी के साथ की गई शशलांछन की शरारत क्या गुरुवर, बृहस्पतिजी, आकल्पांत भूल सकते हैं ? ग्रहों के शत्रुमित्रत्व का बलाबल उनके घर की परिस्थिति ही पर अवलंबित रहता है। तथापि उनके लड़ाई-झगड़े, कभी थोड़ी कभी अधिक मात्रा में, अव्याहत होते ही रहते हैं। हमारी समझ तो कुछ ऐसी है कि दुनिया में जितनी घटनायें—घटनायें ही नहीं, अघटित घटनायें भी—होती हैं, किसी न किसी अंश में, उनका कारण ये नटखट ग्रह ही होते हैं। कुछ समय हुआ, किसी अख़बार में पढ़ा था कि बिहार-प्रांत में किसी जगह ख़ून की वर्षा हुई। हो न हो, यह भी किसी ग्रह ही की कारस्तानी

होगी। अन्यथा आसमान में मार-काट करनेवाला और कौन हो सकता है? इनमें से भी मंगल की कुछ न पूछिए। नाम तो आपका है मंगल, पर स्वभाव आपका बडा ही उग्र, बडा ही हठी, बडा ही दुराग्रही है। वैवाहिक विचार में पहले आपकी मिज़ाजपुरसी करके तब कहीं औरों की तरफ़ ध्यान देने की बारी आती है। योरपवालों के पुराणों में आप वीर-रस के नायक माने गये हैं। आपकी यह आख्या सचमुच ही यथार्थ है। और ग्रह तो ऐसे हैं कि यदि ज्योतिषीजी या पंडितजी महाराज बीच-बचाव करने पर आमादह हो गये तो दान-दक्षिणा लेकर और पूजा-अर्चा कराकर किसी तरह राज़ी भी हो जाते हैं। पर वीरवर मंगल, हज़ार सिर पैर पटकने पर भी, राज़ी होना जानते ही नहीं। वे नाराज़ हुए तो सब गुड़ मिट्टी हो गया समझिए। सभी देशों के हिताहित-संबध की ओर पूरी नज़र रख कर, दो देशों में परस्पर संधिस्थापना की चेष्टा करानेवाले लायड जार्ज के सदृश चाणाक्ष मंत्री को कितनी चतुरता और सावधानता से काम लेना पडता है, यह बात पाठक सहज ही जान सकते हैं। विवाह-घटक, हमारे पिट्टू पंडितजी को भी, प्रति-लायड-जार्ज ही समझिए। ग्रहों के स्वभाव आदि को ख़ूब समझ कर, उनके स्थान-रूप परस्पर सबंध को आँखों के सामने रख कर—वधूवरों की जन्म-पत्रिकाओं के आधार पर विवाह निश्चित करनेवाले पंडितजी के पांडित्य और बुद्धि-वैशद्य की काफ़ी प्रशसा करके पार जानेवाला हमें तो कोई दिखाई देता नही!

उम्मेदवार या पसंद किये गये वर की जन्मपत्रिका का विचार कन्या के जन्मग्रहो के आधार पर करना कोई सरल काम नहीं; बडा टेढ़ा काम है। विश्वविद्यालयों की परीक्षायें पास करने में जैसे हर विषय में नंबरों की निश्चित सख्या प्राप्त किये बिना उम्मेदवारों का निस्तार नही, ठीक वैसाही हाल इस वैवाहिक विचार-विभ्राट् का है।

क्योंकि यहाँ भी नंबरों (गुणों) की संख्या ३६ नियत है। पर ऐसा मौका शायद ही कभी आता होगा कि गुणों का यह पूरा टोटल प्राप्त हो जाय। इसी से जैमिनि आदि पुराने बड़े-बूढ़ों ने कुछ सुभीता कर दिया है। उन्होंने अपने विवाह-कोड मे लिख दिया है कि कम से कम (Minimum) १८ गुण मिल जाने से भी वधू-वरात्मक संयोग-विचार पास समझा जायगा। परतु, लोग धड़ाधड विवाह करके भारत की जनसंख्या सीमा के बाहर न बढा दे, यह सोच कर उन्होंने एक कठिनाई भी उपस्थित कर दी है । वह इस तरह कि फी सदी ५० गुण प्राप्त करने में, जन्मपत्रिका के किसी आंतरिक विषय में फेल हो जाने से, विवाह करने की इजाज़त नहीं मिल सकती। सभी आवश्यक विषयों में पास होना ही चाहिए। इन आतरिक विषयों की संख्या ८ है। इनमें से प्रत्येक के लिए गुणो की संख्या निश्चित कर दी गई है। यथा—वर्णगुण १, वश्यगुण २, तारागुण ३, योनि-गुण ४, ग्रहगुण ५, गणगुण ६, राशिगुण ७ और नाडीगुण ८—इनमे से प्रत्येक की बारीकी बताने की सामर्थ्य हममे नही। जो कुछ बता दिया उसी को "लिखा थोडा, समझना बहुत" चाहिए। हाँ, यहाँ पर "नाडी" शब्द को देख कर एक बात ज़रूर याद आ गई। उसे लिखना ही पड़ेगा, क्योकि उससे हमारे ज्योतिषीजी के विश्वव्यापी विजय की घोपणा हो जायगी—

एक बी० ए० पास कान्यकुब्ज-कुमार ने विवाह करने का निश्चय किया। घर मे केवल बूढ़ी माँ थी। कुमारजी की प्रतिज्ञा थी कि बी० ए० हो जाने पर ही विवाह करूँगा। आपने पहले ही से एक कन्या भी पसंद कर ली थी। इस मंगल-कार्य की तैयारी जब होने लगी तब माँ के बहुत कहने सुनने पर कुमारजी ने ज्योतिषी विजयवल्लभ शर्म्मा को याद किया। उनके आ जाने पर आपने अपनी जन्मपत्री उनके सामने पेश की। शर्म्माजी ने उसे बडी देर तक बड़े ध्यान

से देखा। देख कर आपने "फलादेश" कहना शुरू किया। बहुत बातें आपने कह डालीं, पर सब भविष्यत् में होनेवाली। भूतकाल की एक भी नहीं। आपके कहने का निचोड़ यह था—पूर्णायु का योग है; भाग्योदय के सभी सामान हैं; पंचम घर (संतानयोग) भी भरापूरा है। यह सब चुपचाप सुन कर कुमारजी ने अपनी भावी वधू का नाम बताया और विनीतभाव से प्रश्न किया कि जिसका जन्मपत्र अभी आपने देखा उसका विवाह इस कन्या से होनेवाला है। कहिए, ठीक होगा न ! जन्मपत्री कन्या की थी ही नहीं जो शर्म्माजी को विचारविमर्श में देर लगती। आपने उँगलियों पर मेष, वृष, मिथुन और चू, चे, चो, ला-अश्विनी, करके निमिष-मात्र में उत्तर दिया—विवाह नहीं बनता। यह सुन कर कुमारजी ने पूछा—क्यों ? उत्तर मिला—आदि नाडी लगती है, जिसका फल शास्त्र मे लिखा है—

आदिनाडी वरं हन्ति

शर्म्माजी के मुँह से यह श्लोकपाद निकलते ही बी० ए० पास का चेहरा तमतमा गया। वह बोला—

ज्योतिषीजी होश में आइए। अभी-अभी आपने मेरे जन्मपत्र मे पूर्णायु-योग बताया और अब आप कहते हैं कि इस लडकी के साथ यदि मैं विवाह कर लूँगा तो आदिनाडी लगने के कारण मैं मर जाऊँगा ! जिस पोथी के अनुसार मेरी आयु आपने पूर्ण बताई या तो आप उसे जाकर गंगा में डुबो दीजिए, या उस पोथी को जिसमें "आदिनाडी वरं हन्ति" लिखा है। दोनों मे से एक के विचार ज़रूर ग़लत हैं। यदि नहीं, तो आप इस विरोध का परिहार कीजिए। बोलिए, आप क्या जवाब रखते हैं ? इस पर शर्म्माजी के मुखारविंद से जो जवाब निकला वह था—"ह ह ह ह हा" !

जिनको ज़माने की हवा लगी है वे—विशेष करके अँगरेज़ीदाँ लोग—जन्मपत्र उर्फ़ टिपना देख कर विवाह-निश्चय करने के धार्म्मिक

घटाटोप की बडी कडी समालोचनाये किया करते हैं। वे कहते हैं कि योरप, अमेरिका, चीन और जापान की जाने दीजिए, अपने ही देश के मुसलमान, बौद्ध और पारसी कहाँ जन्मपत्र का मेल मिला कर विवाह करते हैं। वे न गोत्र-विचार करते हैं और न ग्रहादि के गुणधर्म्म का विचार करते हैं। वे यदि कुछ विचार करते हैं तो केवल वधू-वर के गुणधर्म्म का। तिस पर भी उनकी वैवाहिक स्थिति हम लोगो ही की तरह, किम्बहुना हमसे भी अधिक, सुखद होती है। क्या उनमे हम लोगों की अपेक्षा रँडुओ और विधवाओं की संख्या अधिक है ? क्या जन्मपत्रो के मेल का हज़ार विचार करने पर भी यदा कदा विवाह-मंडप के नीचे ही हैज़े से वधू-वर नही मर जाते ? मगर बाबा लगध और पितामह पराशर की हाँक हम लोगो पर कुछ ऐसी हावी है कि ऐसे लोगों के युक्ति-वाद का असर हम पर ज़रा भी नहीं पडता। लडकी उपवर हुई कि लगे कुडलियों (जन्मपत्रों) की खोज करने और दूर-दूर तक के लड़को के नाम "उतरवाने"! ज्योतिषाचार्य्यो ने साफ़ लिख रक्खा है कि जन्म-समय के ज्ञान में मिनट दो मिनट की भी भूल हो जाने से ग्रहो की स्थिति मे आकाश-पाताल का अंतर हो जाता है, पर इसकी क्या परवा ? जन्मपत्र का मेल मिल जाना चाहिए, फिर चाहे वह साद्यंत ही ग़लत क्यों न हो। एक बात बडी दिल्लगी की है। वह यह कि हम लोगों मे लडकियों के जन्मपत्र १०० में शायद किसी एक ही भूले-भटके घर मे बनवाये जाते होंगे। यहाँ तक कि अधिकांश लडकियों का राशि-नाम तक ज्ञात नही रहता। परंतु, फिर भी, विचार के विराट् विभ्राट् से छुटकारा नही मिलता। राशि के नाम से विचार न सही, कहने ही के नाम से हो जाय। कुछ भी हो, हो जाय ज़रूर। कभी-कभी तो लडके का भी जन्मपत्र नहीं रहता। अतएव कहीं

राशि-राशि के नाम से, कहीं एक के राशि-नाम तो दूसरे के कहने के नाम से, और कहीं दोनों ही के कहने के नाम से विचाराडंबर की लकीर पीटी ज़रूर जाती है। इस रूढ़ि-पालन की मर्य्यादा-रक्षा के कारण उपवर कन्याओं के गुरुजनों को जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वे वर्णनातीत हैं। इसकी कृपा से अच्छे, रूपवान्, सुशील, तंदुरुस्त और पढ़े-लिखे लड़के छोड़ना और निरक्षर, कुरूप और विकलांग वरों के साथ बेचारी कन्याओं का गठिबंधन करना पड़ता है। ये दलीलें आप हमारी न समझें; उनकी समझें जिन्हें इस प्रकार के विचार पर श्रद्धा नहीं—जो सुधारक कहाते हैं और जिन्हें इस प्रांत के देहाती मनुष्य 'अँगरेजिहा' की उपाधि से विभूषित करते हैं।

लड़के-लड़की के जन्म-समय का संपूर्ण ज्ञान हुए बिना ठीक-ठीक जन्मपत्र नहीं बन सकता, यह सच है। पर जन्मपत्र बनते ज़रूर हैं। फिर चाहे आप उनको जन्मपत्र समझें, चाहे रद्दी काग़ज़ के टुकड़े। जिन ज्योतिषाचार्य्यों ने अपनी विमल बुद्धि के सूक्ष्म दर्शक यंत्र के सहारे राम और कृष्ण आदि पुण्य-पुरुषों की 'कुंडलियाँ' बना कर पुराणों में दर्ज कर रक्खी हैं उन्हीं के भाई-बंद यदि यः कश्चित् मनुष्यों के लड़कों लड़कियों के जन्मपत्र, उसी प्रकार के बुद्धि-यंत्र के बल पर, बना डालें तो क्या आश्चर्य? देहात में घड़ी-घंटे तो बजते नहीं। धूप-घड़ियाँ या जल-घड़ियों के कटोरे भी होते नहीं। पर जन्मपत्र बनाने ही पड़ते हैं। सो भी कब? बच्चा होने के दस पाँच दिन या महीने दो महीने बाद, सुभीता होने पर। तब कहीं ज्योतिषीजी की शरण ली जाती है। उनसे कहा जाता है—रामू के भाई हुआ है अथवा मन्नू के लड़का हुआ है। आषाढ़ के उजेले पक्ष में हुआ था। उस दिन प्रदोष का व्रत था। शाम का वक़्त था। गायें चर कर घर आ गई थीं। अथवा दोपहर को छूटने के बाद मज़दूर काम पर फिर आ गये थे। अथवा थोड़ी ही रात रह गई थी;

'सुकवा' का उदय हो आया था। समय के इसी निर्भ्रांत और अचूक ज्ञान के आधार पर ज्योतिषीजी महाराज जन्मपत्र की ऊँची इमारत उठाते हैं और इसी ज्ञानालोक के द्वारा देखी गई लग्न और ग्रहादि की स्थिति का निश्चय करते हैं। फिर इसी पर अविचल विश्वास करके, विवाह-काल उपस्थित होने पर, लडकों लडकियों के आमरण भाग्यविधान का अनुष्ठान होता है। अँगरेज़ी-भाषा की वू से बिगडे हुए दिमाग़वाले लोग इसी तरह के अधविश्वास के प्रावल्य से विचलित होकर कह बैठते है—रूढि तेरी जय! अनंत घर घालने पर भी तुझे तृप्ति नहीं!

जन्मपत्र का वैवाहिक मेल मिलाने के सबंध मे संतोष-प्राप्ति के लिए भी यदि किसी का कुछ अवलंब है तो केवल हमारे ज्योतिषीजी महाराजों—केवल हमारे पिद्दू पंडितजी के सदृश गर्गाचार्य्यों—की उदारता का। अनन्य-भाव से उनकी शरण जाने और पत्र-पुष्प से उनकी पूजा-अर्चा करने से वे दयार्द्र हुए विना नहीं रहते। क्योंकि

आत्मार्पणप्रणयिनां नवदर्शनेऽपि
जात्यैव पेशलधिय सदया भवन्ति

रात को किसी भी समय बच्चा होने पर, विना घडी घडियाल ही के, लग्न का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति जैसे ज्योतिषाचार्य्यों में है वैसे ही ग्रहों की चाल बदल देने की भी शक्ति उनमें है। वे चाहे तो सूर्य्य, चंद्रमा आदि ही की नहीं, क्रूरग्रह राहु और केतु की भी गति सहज ही में बदल सकते है। उनकी आज्ञा-मात्र ही से ग्रह-समुदाय अपनी गति बदल देता है और जहाँ, जिस घर में, जिस समय वे आज्ञा दे वहीं वह ठहर जाता है। बस सारा काम बन जाता है। एक नहीं, अनेक जन्मपत्र संगति-समेत तैयार हो जाते हैं और पसंद किये गये वर के साथ कन्या का पाणिग्रहण हो जाता है।

ऐसे सर्वसमर्थ आचार्य्यपुंगव की जितनी पूजा की जाय सब थोड़ी है—

आत्मापि तस्मै दातव्यः किं पुनः कनकादयः

विवाह निश्चय के पहले, धर्म्मभीरु हिंदुओं के यहाँ जिस पंचांग का विचार किया जाता है उसके पाँचों अंगों का उल्लेख ऊपर, एक जगह, किया जा चुका है। उनमें से केवल दो अंगों का—गोत्र और जन्मपत्र का—विचार यथामति, थोड़े ही में, हमने यहाँ पर कर दिया। अवशिष्ट तीन अंगों के विचार की उतनी ज़रूरत नहीं। उनमें से कुलशील और वर के गुण-दोषों का विचार तो बिलकुल ही गौण है। हाँ, दहेज़ महत्त्व का अंग अवश्य है। पर केवल अधिकारी जन ही उस पर कुछ कहने का साहस कर सकते हैं। हम नहीं। हमारी तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं—

जिहि मारुत गिरि-मेरु उड़ाहीं;
कहहु तूल केहि लेखे माहीं।

दिसंबर, १९२१

धनुर्वेद

भारत में किसी समय धनुर्वेद का ख़ूब प्रचार था। अन्य विद्याओं की तरह उसका भी अध्ययन-अध्यापन होता था। धनुर्वेद में पारंगत पंडितों का बड़ा आदर था। जगह-जगह धनुर्वेद-विद्यालय और अखाड़े थे। क्षत्रिय ही नहीं, ब्राह्मण भी तीर चलाना और लक्ष्यभेद करना सीखते थे। इस विद्या में जो लोग विशेष निपुणता प्राप्त करते थे वे—विशेष करके ब्राह्मण—आचार्य-पदवी पाते थे। अच्छे धनुर्धारी तीर से शेरों और हाथियों तक को मार गिराते थे; यहाँ तक कि लोहे के मोटे-मोटे तवों तक को छेद कर वे अपना तीर पार कर देते थे। चललक्ष्य और धावल्लक्ष्य भेद कर देना उनके लिए कोई बड़ी बात ही न थी। वे शब्द सुनकर और आँखों पर पट्टी बाँध कर भी शब्दभेदी बाण छोड़ते और लक्ष्यभेद कर लेते थे। द्रोणाचार्य्य और अर्जुन की धनुर्धरता पुराण-प्रसिद्ध है। मुसलमानों के शासनकाल के अंत तक भी तीरंदाज़ी का प्रचार था। सैनिक लोग, युद्ध में, विपक्षियों पर अनंत तीर बरसाते थे।

जब से अँगरेज़ो ने भारतवासियों को निःशस्त्र कर दिया तब से तलवार और बंदूक़ के साथ ही तीर-कमान का भी तिरोभाव हो गया। कहीं-कहीं वे गोंडों और भीलों ही के पास रह गये। अब साका बदला है। सरकार ने अन्यस्त्रों को छोड़ कर और शस्त्रास्त्रों के लिए लैसंस लेने का क़ानून बहुशः रद कर दिया है। अतएव अब सभी लोग धनुर्बाण रख सकते और धनुर्विद्या का अभ्यास कर सकते हैं। अभ्यास से अब भी धनुर्धारी लक्ष्यभेद करने में बहुत कुछ योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। तीर-कमान से चोरों और डाकुओं

को भयभीत करना और जंगली हिंस्र जीवों से अपनी रक्षा करना तीरंदाज़ी का सामान्य फल है। तीर चलाने के अभ्यास से शारीरिक उपचय भी होता है। वह भी एक प्रकार का व्यायाम है। हम लोगों को चाहिए कि अपने पूर्वजों की इस विद्या की रक्षा करें। अन्यथा वह नामनिःशेष सी तो हो ही रही है।

प्राचीन भारत में धनुर्वेद-विषयक अनंत ग्रंथ विद्यमान थे। पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्रों में अब भी इस विषय के अनेक ग्रंथों के नाम पाये जाते हैं। पर वे छपे नहीं; अतएव अप्राप्य नहीं तो दुष्प्राप्य ज़रूर हो रहे हैं। हमारे संग्रह में धनुर्वेद-संहिता नाम की एक छोटी सी पुस्तक है। वह श्रीवेंकटेश्वर-प्रेस की छपी हुई है। संस्कृत मे है; पर साथ ही नातिशुद्ध हिंदी टीका भी है। उसकी भूमिका में लिखा है कि वह पहले भी बाँकीपुर और अलीगढ़ में छप चुकी है। पर वहाँ की छपी हुई कोई पुस्तक हमारे देखने में नही आई।

प्रस्तुत पुस्तक "संहिता" है। यह शायद इसलिए कि वह महर्पि वशिष्ठजी की प्रणीत बताई गई है—वह "वाशिष्ठी धनुर्वेद-संहिता" है। पुस्तक में कहीं-कहीं गद्य है; और सर्वत्र पद्य। अत मे मनुस्मृति और मिताक्षरा के हवाले हैं। इससे सिद्ध है कि पुस्तक का संकलन या प्रणयन इन दोनों स्मृतियों के अस्तित्व में आने के बाद हुआ है—अर्थात् वह महर्पि वशिष्ठ के ज़माने की बनी नहीं। यह हो सकता है कि वशिष्ठजी ने इस विषय की कोई संहिता बनाई हो अथवा धनुर्वेद-विषयक किसी विशिष्ट प्रणाली की उद्भावना की हो। उसे पीछे से किसी ने संक्षेप में लिख कर वशिष्ठजी ही का नाम दे दिया हो। जैसे वर्तमान मनुस्मृति ख़ास मनुजी की रचना नही वैसे ही यह संहिता भी ख़ास वशिष्ठजी की रचना नहीं मालूम होती। उनकी शिक्षाओं या वचनों का संग्रह-मात्र जान पड़ती है। इसमें क्या है, इसका निदर्शन थोड़े में किया जाता है।

एक दफ़े विश्वामित्रजी राजर्षि वशिष्ठ के पास पहुँचे। वे बोले—भगवन्, दुष्टों और शत्रुओं के नाश के लिए मुझ शिष्य को धनुर्विद्या पढ़ा दीजिए। वशिष्ठजी ने कहा—बहुत अच्छा, पढ़ो। जो विद्या भगवान् सदाशिव ने परशुराम को पढ़ाई थी वही मै तुम्हें पढ़ा दूँगा। पर याद रहे, उसे पढकर गो, ब्राह्मण, साधु और वेद का रक्षण तुम्हें करना पडेगा। क्योंकि दुष्टों, चोरों और डाकुओ आदि से साधुओं की रक्षा और प्रजा का पालन करने ही के लिए धनुर्वेद पढ़ा जाता है। किसी नगर में यदि एक भी धनुर्धर होता है तो उसके डर से शत्रु उसी तरह भाग जाते हैं जिस तरह सिह के डर से हिरन भाग जाते हैं। अतएव यह विद्या बड़े महत्त्व की है।

धनुर्वेद के चार भाग हैं। पहले मे दीक्षा, दूसरे में अभ्यास, तीसरे में तीर चलाने की विधि और चौथे में अस्त्रसंधान के प्रयोगादि का वर्णन है। इसका शिक्षक आचार्य ब्राह्मण ही होना चाहिए और उसे सत्पात्र शिष्य ही को यह विद्या सिखानी चाहिए। अच्छे मुहूर्त्त में, ब्राह्मणों और कुमारिकाओं को भोजन कराकर, धनुर्वेद पढ़ने का आरंभ करना चाहिए।

आयुध चार प्रकार के होते हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यंत्र-मुक्त। मुक्त वे कहाते हैं जो फेंक कर मारे जायँ, जैसे चक्र। अमुक्त, जिन्हें फेंकना न पड़े, जैसे तलवार। मुक्तामुक्त, जिनका प्रयोग दोनों तरह किया जाय, जैसे भाला। यंत्रमुक्त वे जो किसी यन्त्र से छोड़े या फेंके जायँ, जैसे तीर और गोली। साधारण तौर पर अस्त्र उन्हें कहते हैं जो फेंके जायँ और शस्त्र उन्हें जिनको फेंकना न पड़े।

धनुप पर चढ़ा कर शर-सचालन का अभ्यास करनेवाले को पहले विना फल (अर्थात् लोहे की नोक) का तीर लेना चाहिए। उससे पहले फूल बेधना सीखे। फिर फल-सहित तीर से मत्स्यच्छेदन का अभ्यास करे। वह भी सिद्ध हो जाने पर मांसभेदन करना सीखे।

चौबीस अगुल का एक हाथ होता है। ऐसे साढ़े पॉच हाथ

का धनुष श्रेष्ठ होता है। वह देवताओं के लिए है। मनुष्यों का धनुष केवल चार हाथ का होता है। परंतु, हमारे पास जयपुर का बना हुआ एक धनुष है जो पूरे दो हाथ का भी नहीं। इसी से आप जान सकते हैं कि प्राचीन समय में बलवान् धनुर्धारी कितने बड़े धनुष धारण करते थे। ऐसे धनुषों से छोड़े गये शर यदि हाथी के शरीर को छेद कर बाहर निकल जायँ तो क्या आश्चर्य।

सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे, सींग और लकड़ी के धनुष होते हैं। लकड़ी में चंदन, बेत, साल, सेमर और बाँस ही के धनुष अधिक बनते हैं।

धनुष पर चढ़ाने के लिए गुण अर्थात् रोदा भी कई प्रकार का होता है, यथा—रेशम का, हिरन की स्नायु अर्थात् ताँत का, भैंस और बकरे की आँतों की ताँत का, और बाँस के छिलके का। रोदे की रस्सी ख़ूब चिकनी और मज़बूत होनी चाहिए। उसकी मुटाई कनिष्ठा उँगली की मुटाई से कम न हो।

बाण—शरकंड (नरकुल) के अच्छे होते हैं। लंबाई में दो हाथ या उससे कुछ कम होने चाहिए। बाण पके हुए पीले शरकंडे के हों और कनिष्ठा के सदृश मोटे हों। उनके नीचेवाले छोर में कौवे, हंस, मोर, बगुले और गृद्ध आदि के चार-चार पंख, कोई छः-छः अंगुल लंबे, ताँत से बाँध दे।

बाणों के फल अर्थात् लोहे की नोकें अनेक प्रकार की होती हैं, यथा—आरामुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, अर्द्धचंद्र, सूचीमुख, भल्ल, द्विभल्ल, वत्सदंत, कर्णिक, काकतुंड, तोमर, नतपर्व, प्रासदीप्ताग्र आदि। आरामुख से ढाल छेदी जाती है; क्षुरप्र (छूरे की धार सदृश) से हाथ-पैर काट दिये जाते हैं; अर्द्धचंद्र से गर्दन या विपक्षी का धनुष काटा जाता है; सूचीमुख से ज़िरह-बख़्तर का छेदन किया जाता है; द्विभल्ल से सामने आता हुआ बाण दो टुकड़े कर दिया या रोक दिया जाता है—इत्यादि। बाणों के फलों पर नाना प्रकार की ओषधियों

का लेप किया जाता है। उन सबका विधान धनुर्वेद में है। प्रस्तुत पुस्तक में भी है। इन लेपों में विशेषतः विष का मेल रहता है। अतएव लेपयुक्त बाणफलों के घाव असाध्य होते हैं। वे अच्छे नहीं होते। मांस सड़ जाता है। वेदना बहुत होती है। घायल आदमी बहुधा तीव्र यंत्रणा सहते-सहते मर जाता है।

इसके अनंतर मुष्टियों, गतियों और व्यामों का वर्णन है। बायें हाथ की मुट्ठी से शर और धनुष पकड़ने की कई रीतियाँ हैं। भिन्न-भिन्न कार्य-साधन के लिए उनका प्रयोग होता है। इसी तरह आलीढ़, प्रत्यालीढ़, विशाख, दर्दुरक्रम और गरुड़क्रम आदि गतियाँ या आसन भी कई प्रकार के होते हैं। किस पैर को कहाँ पर रख कर और किसको कितना झुका कर बाण-संधान करना और छोड़ना चाहिए। इन्हीं क्रमों के अनुसार ये गतियाँ निश्चित की गई हैं। ये एक प्रकार के पैतड़े हैं। जिसे जो पैतड़ा सुभीते का जान पड़े या जिस पैतड़े से लक्ष्यभेद की अधिक संभावना हो उसी का अव-लंब करना चाहिए।

धनुष के रोदे अर्थात् प्रत्यंचा पर चढ़े हुए शर को दाहने हाथ की मुट्ठी से पकड़ कर धनुष तानना और शर छोड़ना पड़ता है। इस मुट्ठी के भी पताका, वज्रमुष्टि, सिंहकर्ण, मत्सरी और काकतुंडी ये पाँच प्रकार हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के बाण-योजन के लिए इन भिन्न-भिन्न प्रकार की मुष्टियों से काम लिया जाता है।

संधान तीन प्रकार के होते हैं। बाण दूर तक फेंकने के लिए अधः-संधान किया जाता है अर्थात् धनुष को नीचे झुका कर बाण छोड़ा जाता है। अचल लक्ष्य का भेद करने के लिए सम-संधान और किसी दृढ़ वस्तु को तोड़ने के लिए ऊर्ध्व-संधान करना पड़ता है।

धनुष पाँच प्रकार से ताना जाता है। उन प्रकारों के नाम हैं— कैशिक, सात्त्विक, वत्सकर्ण, भरत और स्कंध। धन्वा की प्रत्यंचा,

अर्थात् डोरी यदि केशों तक खींच कर बाण छोड़ा जाय तो उस खींचने की कैशिक संज्ञा है। कान तक खींचने को वत्सकर्ण और गर्दन तक खींचने की स्कंध। इसी तरह और भी समझिए। इसी आकर्षण या खींचने को संस्कृत में "व्याम" कहते हैं। किस युद्ध में और किस प्रकार के लक्ष्यभेद में किस तरह का आकर्षण या व्याम करना चाहिए, इसके नियम धनुर्वेद में निश्चित हैं।

लक्ष्य अर्थात निशाना चार तरह का होता है—स्थिर, चल, चलाचल और द्वयचल। अपनी जगह पर ठहरा हुआ धनुपधारी यदि निश्चल लक्ष्य का भेदन करे तो उसे स्थिर कहते हैं। वही यदि चलायमान लक्ष्य पर बाण मारे तो चल लक्ष्य। यदि लक्ष्य स्थिर हो और चलता हुआ धन्वी उस पर बाण छोड़े तो उसे चलाचल कहते हैं। यदि दोनों ही चलते रहे तो द्वयचल लक्ष्य कहाता है। यह पिछला लक्ष्यभेदन बड़े श्रम और बड़े अभ्यास से सिद्ध होता है।

इसके अनंतर इस पुस्तक में इस बात का विवेचन है कि धनुर्विद्या सीखनेवाले को किस दिन और किस समय अभ्यास करना चाहिए और किस दिन, किस समय नहीं। फिर अभ्यास की विधियों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। लिखा है कि धनुप पर मुट्ठी से ठीक-ठीक बाण पकड़ना सीखने के लिए कम से कम ६ महीने चाहिए और यथानियम बाण छोड़ना सीखने के लिये एक वर्ष। तरह-तरह के लक्ष्यभेद सिद्ध होने के लिए तो कई वर्ष दरकार होते हैं। सो भी जी जान से परिश्रम करने—फूल की तरह तीर धारण करने, सर्प की तरह धनुप का पीडन करने और धन-सपत्ति की तरह लक्ष्य का चिंतन करने से यह सिद्धि प्राप्त होती है। शीघ्रसंधान, दृढ़भेदिता, हीनगति, लक्ष्यस्खलनगति, शुद्गगति, दृढ़चतुष्क, और चित्रविधि आदि का वर्णन करके भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्ष्य के भेदन की प्रणालियो के जो वर्णन इसमें हैं उन्हें पढ़ कर आश्चर्य भी होता

है और कौतूहल भी। चाँदमारी का भी वर्णन किया गया है और शब्दमात्र सुनकर लक्ष्यभेद करने का भी।

ब्रह्मास्त्र, ब्रह्मदंड, ब्रह्मशिरा, पाशुपतास्त्र, वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, नारसिंहास्त्र के नाम रामायण, महाभारत और पुराणों मे जगह-जगह मिलते है। उनके साधन की विधि का भी सच्चिप्त वर्णन इस पुस्तक में है। पर वह सारी की सारी विधि मंत्र-सिद्धियों पर अवलंबित है। लाखों मंत्र जपने और हवन आदि करने से सिद्धि की प्राप्ति होना लिखा है।

इसके आगे शस्त्रास्त्रों का वारण करने अर्थात् उनकी चोट से बचने, अपने विपक्षी को जीतने, युद्ध मे विजयी होने, शेर-बाघ-हाथी-सर्प आदि के आघात या दंश से बचने की दवाओं और टोटकों का वर्णन है। मंत्र-यंत्र, स्वर-विचार, नाडी-विचार और मुद्राओं आदि का उल्लेख भी है। इस विचार में विपक्षी दल पर विजय—प्राप्ति की युक्तियाँ बताई गई हैं। युद्ध में राहु और योगिनी के बलाबल का भी विवेचन है। आजकल ये सब बाते कौतुकावह जान पडती हैं, पर प्राचीन समय में ये बड़े महत्त्व की समझी जाती थी। अब तो मैशीन-गनों से गोलियों की बौछार छूटने और हवाई जहाज़ो से गोलों की वर्षा होने के समय राहु और योगिनी का बलाबल विचार करने से सर्वनाश हो सकता है। पचांग खोलकर राहु की गति का ज्ञान प्राप्त करनेवाले पंडितजी का ही बच निकलना असंभव हो सकता है, औरों की तो बात ही क्या।

इस पुस्तक के प्रणेता वशिष्ठजी या उनके किसी अनुयायी ने इसमें व्यूह-रचनाओं का भी वर्णन किया है। दंड-व्यूह, शकट-व्यूह, वराह-व्यूह, मकर-व्यूह, सूची-व्यूह, गरुड-व्यूह, पिपीलिका-व्यूह और कमल-व्यूह आदि अनेक प्रकार के व्यूहों का विवेचन लिख कर यह बतलाया गया है कि किस मौके पर कैसी व्यूह-रचना करके युद्ध करने में सफलता हो सकती है। क़वायद के बोल भी संस्कृत में

खूब दिये गये हैं। लिखा है कि सेनानायक या राजा को इन्हें याद रखना चाहिए और इन्हीं के उच्चारण से सेना का संचालन करना चाहिए। उदाहरण के कुछ बोल नीचे दिये जाते हैं—

(१) कोटं वेष्टयत [किले को घेर लो]

(२) अश्वान् जलं पाययत [घोड़ों को पानी पिला लो]

(३) भल्लेनैव वाटिका-भोजनं पाचयत [भाले ही से बाटियाँ पका लो, घोड़े से मत उतरो।

(४) कटिं बध्नीत [कमर कसो]

(५) शस्त्राणि धारयत [हथियार ले लो]

(६) अश्वानारोहत [घोड़ों पर सवार हो]

(७) प्रत्यालीढं चलत [प्रत्यालीढ़ गति से चलो]

(८) तिष्ठत [ठहर जाव]

(९) प्राङ्मुखाश्चलत [सामने मुँह करके चलो]

(१०) धनुरारोपणम् [धनुष का आरोपण करो]

(११) निपतत [टूट पड़ो]

(१२) मारयत [मारो]

इस धनुर्वेद-संहिता नामक पुस्तक में जो बातें हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख हो चुका। डबल बैरल बंदूक़ों और रिवालवरों के साम्राज्य में धनुर्बाण को हम लोग भूल गये हैं। बिना लाइसेंस के धनुष-बाण रखना गवर्नमेंट ने अब तक जुर्म भी करार दिया था। इससे इच्छा होने पर भी हम लोग तीर-कमान न रख सकते थे। पर अब वह क़ैद नहीं रही। अब हर कोई तीर-कमठा रख सकता है। इस कारण, लोग चाहें तो अपने पूर्वजों की यादगार समझ कर ही वे धनुर्वेद के कुछ अंगों का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं।

जनवरी, १९२२

महाकवि माघ की राजनीति

बात द्वापर युग के अंत की है, आज की नहीं। एक दिन द्वारका-पुरी में श्रीकृष्ण भगवान् अपने घर मे आनंद से बैठे थे कि अकस्मात् नारद मुनि आ गये। पूजा-अर्चा और उपचार की बाते हो चुकने पर नारद ने कहा—

मैं आपसे कुछ निवेदन करने आया हूँ। पर निवेदन करने के पहले मैं आपको कुछ पुरानी याद दिलाता हूँ। प्रबल पराक्रमी दानव हिरण्यकशिपु की याद है? आपही ने नृसिह बन कर उसका पेट फाडा था। उसके बाद वही दानव, त्रेता में, रावण हुआ। तब रामावतार लेकर उसे भी आपही ने उसकी नृशंसता का फल चखाया। अब वही शिशुपाल के रूप में फिर पैदा हुआ है। जन्मांतर हो जाने पर भी उसकी वह दुराचारिणी प्रकृति नहीं गई। इस जन्म में भी वह पूर्ववत् ही नरों और सुरों तथा ऋषियों और मुनियों को सता रहा है। अपने उत्पीडन और अत्याचार से उसने सभी के नाकों दम कर रक्खा है। आपका अवतार तो लोक-रक्षा ही के लिए है। अतएव उसे फिर भी एक बार कीनाश-देश की सैर कराकर पृथ्वी का बोझ हलका कर दीजिए। यह गुरुतर कार्य आपही के किये हो सकता है, और किसी के नहीं।

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने, विना किसी सोच-विचार के, कहा—"ॐ" (जो आज्ञा)

श्रीकृष्णजी की स्वीकृति सुन कर नारद प्रसन्न हो गये और तत्काल ही जहाँ से आये थे वहाँ उड़ गये। पर गुब्बारे, हवाई-जहाज़, एयरशिप या एरोप्लेन पर सवार होकर वे नहीं उड़े। उनका

वायुयान उनकी इच्छा ही थी। बस, जहाँ ब्रह्मलोक को लौट जाने की इच्छा उनके हृदय में हुई तहाँ वे बात कहते उस लोक में पहुँच गये।

शिशुपाल था चेदिदेश का राजा। ललितपुर से थोड़ी दूरी पर कुछ-कुछ उजड़ा हुआ एक प्राचीन नगर है। वह चंदेरी कहाता है। लोगो का ख़याल है कि शिशुपाल की राजधानी यहीं थी। सो उस समय कृष्ण तो थे द्वारका में और शिशुपाल था चंदेरी में।

नारद को बिदा करके श्रीकृष्णजी अपने कमरे में आये। वहाँ उन्होंने बड़े भाई बलराम और परम मित्र उद्धव को बुला भेजा। उनसे नारद की प्रार्थना और अपनी स्वीकृति की कथा कही। यह भी कहा कि हस्तिनापुर, अर्थात् आजकल की देहली, मे युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं। उसमें शामिल होने के लिए उनका निमंत्रण आया है। इधर मैं शिशुपाल को सज़ा देने का वचन नारद मुनि को दे चुका हूँ। यह काम भी ज़रूरी है, वह काम भी। बताइए, आप लोगों की क्या सलाह है। किसको पहले और किसको पीछे करना चाहिए। मेरी राय तो यह है कि विना हमारी सहायता के भी युधिष्ठिर अपना यज्ञ निर्विघ्न समाप्त कर सकते हैं। उनके बलवान् भाइयों ने इस भूमंडल को जीत कर सभी नरेशों को उनका वशवर्ती कर दिया है। हम लोग न जायँगे तो क्या उनका यज्ञ रुक थोड़े ही जायगा। उधर शिशुपाल ने बहुत ही सिर उठाया है। उसका किया हुआ उत्पात बढता ही जाता है। उसका बल भी बढ़ रहा है, और बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा करना मना है। वर्द्धमान शत्रु और रोग दोनों ही घातक होते हैं। इसी से नीतिज्ञों की सम्मति है कि अपना भला चाहनेवाले को उन्हे बढने न देना चाहिए। बढ़ने के पहले ही उन्हे निर्मूल कर देना चाहिए।

मेरे इस इतने ही कथन से आपको मालूम हो गया होगा कि मेरी

क्या राय है। अब बताइए, आपकी क्या है। मैं अपने मत को महत्त्व नहीं देता ; क्योंकि किसी संदिग्ध काम के विषय में अकेले एक मनुष्य की सम्मति माननीय नही हो सकती, फिर चाहे वह तत्त्वदर्शी ही क्यों न हो। बात यह है कि एक से भूल हो जाने का डर रहता है, अनेक से नहीं।

श्रीकृष्ण का यह कथन सुन कर बलराम ने अपनी राय की पुष्टि में इस प्रकार वक्तृता आरंभ की। वे बोले—

भाई, वाह! आपने जो दीनता-रहित संक्षिप्त कथन किया वह सर्वथा आपके योग्य है। आप मितभाषी हैं। इसी से बढ़ा कर बात नहीं कही। कहा आपने थोड़ा, पर उस थोड़े ही में सिद्धांत की बात कह दी। इसमें संदेह नहीं कि बढते हुए शत्रु की जड काट ही देना चाहिए। भलाई इसी में है। आपकी सम्मति नितांत निर्दोष है। आपके प्रश्न का उत्तर बस यही हो सकता है कि आपकी सम्मति के अनुसार शीघ्र ही काररवाई शुरू कर दी जाय। किंतु, परंतु, करने की आवश्यकता नही। क्योंकि आपने बात ही ऐसी कह दी है। वह है तो स्वल्प, पर काटी नही जा सकती। कोई चाहे कितना ही नामी वक्ता क्यों न हो और वह कितना ही वाग्विस्तार क्यों न करे; मजाल नही कि वह आपकी सिद्धांतमयी संक्षिप्त वाणी का खंडन कर सके। वह सर्वथा अनुल्लंघनीय है। आप लकडियों के ढेर के ढेर जला दीजिए। उनकी लपट क्या अपने तेज से सूर्य से बढ़ जा सकती है? क्या वह उसका उल्लंघन कर सकती है? यह कभी संभव नहीं। भाई साहब, मै आपसे पूर्णतया सहमत हूँ। आपके मत की पुष्टि में मैं जो ज़रा विस्तार-पूर्वक कुछ निवेदन करना चाहता हूँ उसे आप अपनी सूत्र सदृश स्वल्प वाणी का भाष्य समझें। आपही के सिद्धांत का समर्थन मै कुछ विस्तार के साथ करना चाहता हूँ। अपनी तरफ़ से मैं कोई नई बात न कहूँगा।

बुद्धिमानों की बात काट देना सहज नहीं। उनका विरोध करनेवाला चाहे बृहस्पति ही क्यों न हो, उसे भी चुप्पी साधनी पड़ती है। उनकी बात ही कुछ ऐसी सारवान् होती है कि वाचाल भी विरोधियों के मुख से उसके प्रतिकूल एक शब्द तक नहीं निकलता; पर अनुकूलवादी जड़ों की भी जिह्वा, उसे सुनकर, प्रगल्भता दिखाने लगती है। भाई, मेरा भी यही हाल है; मैं भी तो आपकी सम्मति का पोषक हूँ।

अपना उदय और शत्रु का नाश, यही दो बातें राजनीति की भित्ति हैं। इन्हीं को ध्यान में रख कर जो कुछ कहना हो, कहना चाहिए। ऐश्वर्य चाहे जितना अधिक हो जाय, उतने ही से संतोष न कर लेना चाहिए; और भी अधिक ऐश्वर्य-प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। महासागर क्या पूर्ण नहीं? क्या उसमें ऐश्वर्य की कुछ कमी है? फिर भी वह पूर्णचंद्रोदय की इच्छा सदा ही किया करता है। यही चाहिए भी। जो थोड़ी ही संपदा से अपने को कृतार्थ समझ लेता है उसकी संपत्ति-वृद्धि विधाता भी नहीं करता। वह सोचता है कि इसे अधिक संपत्ति की तो इच्छा ही नहीं। फिर इसे और देने से क्या लाभ?

मानी मनुष्य शत्रु का नाश करके ही चैन लेते हैं। विना उसके विनाश के उनका उदय भी नहीं हो सकता। देखिए न, अंधकार का नाश करने के उपरांत ही सूर्य का उदय होता है। यही हाल जल का भी है। धूलि को कीच बना कर ही वह ठहरता है, क्योंकि विपक्षी का विनाश साधन कर लेने ही पर प्रतिष्ठा मिलती है। अन्यथा उसे आप दुर्लभ ही समझिए। एक भी शत्रु जब तक बचा हुआ है तब तक सुख कहाँ? देवताओं के शत्रु राहु को देखिए। देवता तमाशा देखा करते हैं; वह चंद्रमा की दुर्दशा किया करता है। है वह अकेला ही, पर फिर भी किसी से कुछ करते धरते नहीं बनता।

उपकार करनेवाले शत्रु से भी संधि कर लेने में हर्ज नहीं। अप
अपकार करनेवाले मित्र से भी संधि करने मे हर्ज है। शिशुपाल
हम लोगों का रिश्तेदार, अतएव एक प्रकार से मित्र, है। पर वह
सदाही हमारे अपकार की चेष्टा में रत रहता है। अतएव उसके
साथ संधि करना मुनासिब नहीं। जिस समय रुक्मिणी का हरण
किया गया था उसी समय से शिशुपाल से शत्रुता आरंभ हुई थी।
जब आपने भौमासुर पर चढ़ाई की तब तो मौका पाकर उसने
हमारी द्वारकापुरी पर चढाई तक कर दी। उसकी दुष्टता तो देखिए
कि उसने कुछ यादवों की स्त्रियों का हरण भी किया—अथवा
उसके ऐसे कुकर्मों के उल्लेख से क्या लाभ? उनकी तो चर्चा से
भी पाप होता है। इन बातों से सिद्ध है कि वह हम लोगों का
पूरा वैरी है। वह विरोधजनक बातें ही नहीं कहता, वह तो विरोध
और शत्रुता के सूचक काम भो करते नहीं हिचकता। फिर उसकी
शत्रुता में क्या संदेह?

शिशुपाल बडा क्रोधी है। वह हम पर क्रुद्ध होकर ही हमारे साथ
वैर-भाव कर रहा है। ऐसे वैरी के साथ उदासीनता का व्यवहार
करना—चुपचाप वैठे रहना—सूखी घास के ढेर में आग लगा कर,
उसी के पास, हवा के सामने, सो जाना है। ऐसा अविवेकी मनुष्य
जलने से नही बच सकता। इसी तरह क्रोध से जलते हुए शत्रु से
बचाव का उपाय न करके उसकी उपेक्षा करनेवाला भी मारे जाने
से नहीं बचता।

जो क्षमाशील है वह अपने विरोधी को एक दफ़े क्षमा कर देगा;
दो दफ़े क्षमा कर देगा। क्या वह बार-बार क्षमा ही करता जायगा?
एक नहीं, अनेक अपराध करनेवालों के लिए क्षमा कैसी? पुरुष
का भूषण क्षमा अवश्य है, परंतु अपमान हो तो वह भूषण नहीं;
तब तो वही दूषण है। वैसे अवसर मे तो पुरुष का भूषण पराक्रम

ही है। मनुष्य की बात जाने दीजिए। ज़मीन पर पड़ी हुई ख़ाक भी तो अपना अपमान नहीं सह सकती। यदि कोई उसे लात मारता है तो उड़ कर वह उसके सिर पर चढ़ जाती है। अपमान होता देख कर भी चुप बैठनेवाले आदमी से तो यह ख़ाक ही भली। शत्रु तो अपनी अवज्ञा करे और नाना प्रकार के दुःख दे, पर उसका प्रतिपक्षी उस दुःखाग्नि से जलता हुआ भी जीता ही रहे। लानत है ऐसे जीने को। ऐसे आदमी का जन्म ही व्यर्थ है। वह अपनी उत्पादयित्री जननी के क्लेश का कारण-मात्र है।

पर्वत में गंभीरता तो नहीं, पर ऊँचाई अवश्य है। उधर समुद्र में ऊँचाई तो नहीं, पर गंभीरता अवश्य है। अपने इस एकही एक गुण के कारण वे अनुल्लंघनीय हैं—कोई उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। वीरों और मनस्वी पुरुषों में तो ये दोनों ही गुण होते हैं—उच्चता भी और गंभीरता भी। फिर उनका उल्लंघन क्यों होगा? होगा तभी जब वे कोमलता का व्यवहार करेंगे—जब वे अपना पराक्रम न प्रकट करेंगे। इसका सबूत लीजिए। राहु की दृष्टि में सूर्य और चंद्रमा दोनों ही एक से अपराधी हैं। पर सूर्य का ग्रास तो वह कभी भूले ही भटके करता है; चंद्रमा के तो अकसर ही पीछे पड़ा रहता है। इसका एकमात्र कारण है चंद्रमा की कोमलता—

टेढ़ जानि शंका सब काहू

बात यह। याद रहे, दुर्बलों का कही गुज़ारा नहीं। उन्हे आप तिनके के सदृश समझिए। वायु के ज़रा से झोंके से भी बेचारे तृण हिल उठते हैं और झुक जाते हैं। इसी तरह कोमल स्वभाव के और निर्बल मनुष्य भी अल्प-बली भी शत्रु के सामने नही ठहर सकते। उन्हे भी झुक जाना और पराजय-स्वीकार करना पड़ता है।

भाई साहब, मानी मनुष्य को कीर्त्ति प्राणों से भी अधिक प्यारी होती है। पर कीर्त्ति स्वर्ग तक फैल कैसे सकती है? उसे वहाँ तक

चढ़ने के लिए कुछ आधार भी तो चाहिए। इस काम के लिए शत्रु का सिर ही बढ़िया आधार—बढ़िया सीढ़ी—का काम दे सकता है। उसी पर पैर रखने से कीर्त्ति को स्वर्ग तक पहुँचा देने का साधन प्राप्त हो जाता है।

आप विश्वास कीजिए, संसार में कोमलता काम नहीं आती। चंद्रमा ने मृग (हिरन) को उदारतापूर्वक अपने गोद में बिठा रक्खा है। इससे लोग उसे मृगलांछन (हिरन-कलंकी) कहते हैं। पर जो शेर मृगो के यूथों को निष्ठुरतापूर्वक मार गिराता है उसे वे मृगाधिप अर्थात् हिरनों के राजा, की पदवी प्रदान करते हैं। ज़रा इस दिल्लगी को तो देखिए। अंक में बिठाने से तो कलंक, पर मार डालने से राजत्व की प्राप्ति !

सामोपायों से—समझाने-बुझाने और ऊँच-नीच सुझाने से—शिशुपाल की अक्ल ठिकाने आने की नहीं। इससे उसका विरोध-भाव और दुष्टाचार बढ़ेगा, घटेगा नही। तपे हुए घी में जलबिंदु टपकाने से वह ठंढा नहीं होता, उलटा और जल उठता है। आप अपनी क्षमा को अब रहने दीजिए। उसे छोड़ने ही से काम बनेगा। आपकी क्षमा महासागरों की वेला (तटभूमि) के सदृश है। वेला यदि अवरोध न उत्पन्न करे तो महासागर समस्त लोकों को डुबो दे। तद्वत् आपकी क्षमा यदि रुकावट न पैदा करे तो यादव लोग लोक-समुदाय का संहार कर डालें। तुच्छ शिशुपाल का सर्वनाश कर डालना उनके लिए कौन बड़ी बात है।

अतएव, भाई साहब, इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करने का मौका नहीं। वहाँ मत जाइए। शिशुपाल पर चढ़ाई कर दीजिए। सेना सजाइए। मैं चाहता हूँ कि हमारे हाथियो की घटायें चेदि-देश के वनोपवन उजाड़ कर उनके वृक्षों को बौने बना डालें—उन्हे तोड़-ताड़ कर ठूँठ कर दें।

संसार स्वार्थपर है। सभी अपने-अपने मतलब के यार हैं। सो, भाई, युधिष्ठिर तो राजसूय यज्ञ करें; सुरेश्वर स्वर्ग की रक्षा में तत्परता दिखावें; सहस्रकिरण सूर्य ख़ूब तपें; और हम लोग अपने शत्रुओं के संहार-कार्य में लगें। अब देर न कीजिए। शत्रुओं के शिरश्छेद से निर्गत रुधिर से अभिषिक्त हम लोगों के चमचमाते हुए शस्त्रास्त्रों पर सूर्य की किरणें पड़े और उन्हे बिजली की संपदा (शोभा) प्राप्त हो!

इस प्रकार बली बलराम की भी वही राय ठहरी जो श्रीकृष्णजी की थी। उन्होंने भी कहा—अजी, युधिष्ठिर के न्यौते में क्या रक्खा है। चलिए, निःशील शिशुपाल के दौरात्म्य की दवा करें; उसे उसके दुराचार का मज़ा चखावें। उसका मारा जाना ज़ियादह ज़रूरी है, न्यौता खाना उतना ज़रूरी नहीं। बड़े भाई के ऐसे तेजस्वी वचन सुनकर भी श्रीकृष्णजी कुछ न बोले। उन्होंने चुपचाप उनका लेक्चर सुन लिया। मालूम नहीं, मन ही मन वे ख़ुश हुए या नहीं। ख़ुश होना तो ज़रूर चाहिए था। क्योंकि अपने मत की पोषकता होती देख भला किसे ख़ुशी न होगी। ख़ैर, बलरामजी की बात सुनकर श्रीकृष्णजी ने सोचा कि बड़े बूढ़े उद्धवजी की भी राय तो सुन ले। देखें, वे क्या कहते हैं। वे मुँह से तो कुछ बोले नहीं, आँख से ही उन्होंने उद्धवजी से इशारा किया। वे उस इशारे का मतलब समझ गये। अतएव विख्यात वक्ता बृहस्पति के समान उन्होंने अर्थ-गौरव से पूर्ण और परम हितकारी वचनों के विस्तार का उपक्रम किया। पर ऐसा करने में उन्होंने औद्धत्य को ज़रा भी पास न आने दिया। वे गदाग्रज भगवान् कृष्ण से बोले—

जो कुछ कहना उचित था वह तो बलभद्रजी ने कही दिया। अब उस पर और कुछ निवेदन करना बेकार है। लिखने की बात

जब पत्र ही में लिखी जा चुकी तब और, ऊपर से, संदेश कहना कैसा ? वह तो सर्वथा अनावश्यक ही समझिए। पर आप मेरा गौरव करते हैं—आप मुझे गुरुस्थानीय समझते हैं—इससे कुछ न कहना भी मेरे लिए असंगत है। ज़रूरत तो नहीं है, पर मेरे विषय में आपका पूज्य भाव मुझसे कुछ निवेदन करने की बलवत् प्रेरणा कर रहा है। मैं जो कुछ आपसे कहने जाता हूँ उसका प्रेरक आपका वही पूर्वोक्त भाव है। वर्णमाला के अल्पसंख्यक वर्ण तो निश्चित ही हैं। पर उन उतने ही वर्णों की बदौलत अनेक प्रकार के शब्दसमूह बन जाते है। संगीत के स्वरों का भी यही हाल है। वे है तो सात ही; पर उन्हीं की सहायता से विशेष-विशेष प्रकार के और भी अनगिनत रागों और रगिनियों की उत्पत्ति होती है। बलदेवजी ने जो बात कह दी उसमें मीन-मेप करने के लिए जगह नही। स्वरों और वर्णों के सदृश उसी को मैं मुख्य और निश्चित मानता हूँ। यह बात दूसरी है कि उसको आधार मान कर उसके विषय में कुछ विशेष प्रकार की शब्द-रचना की जाय। मैं भी कुछ-कुछ ऐसा ही प्रयत्न करने जाता हूँ।

मनचले आदमी प्रसंग छोड़ कर दूर तक बहक जाते है। जो उनके जी में आता है, कहते हैं और बहुत कुछ कह डालते हैं। परतु प्रसंग के भीतर ही सार्थक वचन कहना ज़रा मुश्किल काम है। प्रलाप बात दूसरी है, और प्रसगानुसारी सार्थक वचन-विन्यास दूसरी। बाण की तीक्ष्ण नोक छोटी होने पर भी, दूर तक घुस जाती है। पर पत्थर मोटा होने पर भी, मारने पर, भीतर नहीं धँसता, अधिक व्यापक जगह में आघात तो करता है, पर ऊपर ही रह जाता है। तीक्ष्ण और स्थूल बुद्धिवाले वक्ताओं का भी यही हाल है। जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण है वे निश्चित विषय पर थोड़ा ही कहते हैं, पर कहते इस तरह हैं कि उनका कथन श्रोता के हृदय के

अंतस्तल तक पहुँच जाता है। स्थूल बुद्धिवालों का हाल ठीक इसके विपरीत है। वे कहते तो बहुत हैं; पर उनका कथन ऊपर ही ऊपर रह जाता है। वह हृदय के भीतर नहीं धँसता—वह जँचता नहीं।

अज्ञों और विज्ञों में बड़ा भेद है। अज्ञ आदमी किसी छोटे ही मोटे काम का आरंभ करते हैं और उतने ही से घबरा उठते हैं। विज्ञों का उद्योगारंभ सदा महान् होता है और बड़े से भी बड़े काम को उठा कर वे घबराते नहीं। व्यग्र होना तो वे जानते ही नहीं। विज्ञ नरेश मौक़े की घात में रहते है। जैसा मौक़ा—जैसा समय—होता है तदनुकूल ही वे व्यवहार करते हैं। उनका हाल रस-भाव के ज्ञाता सत्कवियों का जैसा समझिए। विषय के यदि अनुकूल होता है तो वे ओजोगुण का आश्रय लेते हैं; नही तो प्रसाद-गुण का। क्योंकि कोई विषय प्रसादगुण की अपेक्षा करता है, कोई ओजोगुण की। ज्ञान रखनेवाले नराधिप तेजस्विता और क्षमा दोनों में से जिसके प्रदर्शन की वे ज़रूरत समझते हैं उसी का प्रकटीकरण करते हैं। विना सोच-विचार के उनका व्यवहार नही करते। तेजस्विता अच्छी ज़रूर है; पर सभी मौक़ों पर उससे काम नही निकलता। कभी-कभी क्षमा की भी ज़रूरत होती है।

रोग का हाल और शत्रु का हाल एकही सा है। शरीर में जब तक बल है, तब तक उत्पन्न हुआ रोग भी, खटकता तो है, पर ज़ोर नही करता। परंतु जहाँ उसने शरीर को निर्बल कर पाया तहाँ असाध्य होकर वह धर दबाता है और जान लेकर ही छोड़ता है। समझदार आदमी भी ऐसा ही करते है। शत्रु की शत्रुता खटकती तो उन्हें ज़रूर है, तथापि वे असमय ही मे अपना शत्रु-भाव प्रकट करके उसे दंड देने की योजना नहीं करते। मौक़ा देखते रहते हैं। बस, ज्योंही उसे निर्बल कर पाते है त्योंही असाध्य होकर उसका नाश कर देते हैं। यदि मृदुता से काम निकल जाय तो कठोरता का

व्यवहार कोई क्यों करे। दीपक को देखिए। क्या वह तेजस्क नहीं? तथापि रुई के सदृश कोमल चीज़ ही की बत्ती की सहायता से वह सारे तेल को जला डालता है। तेजस्वियों का तेज भी, इसी तरह, कोमल व्यवहार के सहारे अपना काम निकाल लेता है और फिर आनन्द से अपने अभीष्ट अर्थ का उपभोग करता है।

बुद्धिमान् वही है जो अपना कार्य्य-साधन कर ले। उसे सुकवि के मार्ग का अवलंबन करना चाहिए। सत्कवि न तो अकेले शब्द-समूह ही का आश्रय लेता है, न अकेले अर्थ ही का। वह दोनों का आश्रय लेता है—शब्द का भी और अर्थ का भी। विद्वान् भी प्रारब्ध और पौरुष दोनों का सहारा लेता है। न वह भाग्य ही की उपेक्षा करता है और न पौरुष ही की। ज़रूरत पड़ने पर वह पौरुष भी प्रकट करता है। पर जब तक उसकी ज़रूरत नहीं तब तक प्रारब्ध का तिरस्कार भी नहीं करता।

मनुष्य को अपनी शक्ति देखकर तदनुकूल ही काम करना चाहिए। देखिए, समय पर यथाशक्ति व्यायाम (कसरत) करने से शरीर का उपचय होता है—सभी अंग बढ़ते और सुदृढ होते हैं। पर वही व्यायाम यदि असमय में और शक्ति के बाहर किया जाय तो अपाय का कारण होता है। मेरी राय तो यह है कि क्षमा और शक्ति-प्रदर्शन भी, मौक़ा देख कर, समय पर ही करना चाहिए। क्षमा करने का मौक़ा हो तो क्षमा करना चाहिए और बल-प्रयोग का मौका हो तो बल-प्रयोग करना चाहिए। क्षमा का मौक़ा होने पर भी, शक्ति के बाहर युद्ध करने से, राजा के राज्य-रूप अंगों का उपचय होना तो दूर रहा, उलटा उनका नाश हो जाता है। अतएव, आप चेदि-नरेश शिशुपाल पर सहसा चढ़ दौड़ने का विचार न कीजिए। उसका अपमान करना—उसे नाचीज़ समझना—बड़ी भारी भूल होगी। मैं आपको व्याकरण-शास्त्र के एक नियम की याद दिलाता हूँ।

देखिए, उदात्त स्वर दूसरे अनुदात्त स्वरों को एकदम ही दबा लेता है। तद्वत् ही शिशुपाल भी अपने शत्रुओं को एक ही दफ़े में—बात की बात में—मार सकता है। आप शायद यह समझते होंगे कि शिशुपाल अकेला है। उसे जीत लेना कौन बड़ी बात है। नहीं-नहीं, ऐसा भूल कर भी कभी न सोचिए। वह राजों का भी राजा है। अन्य अनेक शत्रु भले; वह अकेला नहीं। उसे आप राजयक्ष्मा रोग के सदृश समझिए। राजयक्ष्मा जैसे और सैकड़ों रोगों के समूह से भी अधिक भयंकर, अतएव प्राणनाशक, होता है वैसे ही अकेला शिशुपाल भी सैकड़ों राजों के समुदाय से भी अधिक बलशाली और दुर्धर्ष है।

शिशुपाल पर चढ़ाई करने के पहले और भी तो आगे पीछे की बातें सोच लेनी चाहिए। बाणासुर को आप अपना मित्र न समझें। मन ही मन वह आपसे जलता है। जहाँ आपने शिशुपाल के प्रतिकूल नक़्क़ारा बजाया तहाँ बाणासुर तत्काल ही उससे आ मिलेगा। कालयवन, शाल्व, रुक्मि, द्रुम आदि भी उस समय चुप रहनेवाले नहीं। जैसे शिशुपाल तमोगुणी है वैसे ही ये लोग भी है। तम स्वभाव ही से सायंकाल का अनुगमन करता है—अँधेरा अँधेरे के पास जाता है। अतएव ये लोग भी ज़रूर ही शिशुपाल का साथ देंगे। इन लोगों ने यद्यपि आपके साथ संधि कर ली है तथापि भीतर ही भीतर ये सभी आपसे द्वेष रखते हैं। बस, जहाँ शिशुपाल ने इन्हें उकसाया कि इन्हें आपके विरुद्ध खड्ग-धारण करते देर न लगेगी। ईंधन पर अगर आग रख दी गई हो और उसी समय आँधी आ जाय तो लकड़ियों के उस ढेर को जल उठते क्या देर लगेगी? इन लोगों को आप सुलगाई हुई लकड़ियों का टाल समझिए। पवन बन कर शिशुपाल इनको तुरंत ही कोप-प्रज्वलित कर देगा। छोटों को यदि किसी बड़े की सहायता मिल जाय तो वे

भी अपनी अभीष्ट-कार्य-सिद्धि में सफल हुए विना नहीं रहते। छोटी-मोटी पहाडी नदियाँ भी, गंगा के सदृश किसी बडी नदी का सहारा पाकर, महासागर तक पहुँच जाती हैं। अच्छा, कल्पना कीजिए कि आपने शिशुपाल के साथ युद्ध करने के लिए तैयारी कर ही दी। इस दशा मे जो राजे शिशुपाल के मित्र होंगे वे, और आपके जो शत्रु होंगे वे, सभी, शिशुपाल की सहायता के लिए दौड पड़ेंगे। इधर आपके मित्र और शिशुपाल के शत्रु आपका पक्ष ग्रहण करने के लिए आपकी सेना में शामिल होने आवेंगे। फिर रह कौन जायगा? और युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ मे जायगा कौन? आप ऐसे समय मे यदि रण-भेरी बजा कर महाभारत रचेंगे तो धर्मराज का यज्ञ भंग ही हुआ समझिए। इसके प्रधान कारण होंगे आप। अतएव युधिष्ठिर आप ही को अपना पहले नंबर का शत्रु समझेंगे। फिर एक बात और भी है। धर्मराज युधिष्ठिर आपके बधु हैं। राजसूय-यज्ञ कोई ऐसा वैसा काम नही। वह बड़े महत्त्व का है और बड़ो ही की सहायता से निर्विघ्न पूर्ण हो सकता है। आपको बडा आदमी समझ कर ही—बहुत कुछ आपके भरोसे ही—वे यह काम करने को तैयार हुए है। अब यदि आप ही इस समय रण ठान कर, उस यज्ञ के विध्वंस का कारण होंगे तो आप विश्वासघात करने के इलज़ाम से न बचेंगे। यदि अपना शत्रु भी अपनी कृपा का भिखारी बने तो महात्माजन उस पर भी अनुग्रह करते है। धर्मराज तो आपके मित्र हैं, मित्र ही नही, वे तो बंधु भी है। बडी-बडी नदियो को देखिए। पर्वतजात छोटी-छोटी नदियाँ यद्यपि उनकी सपत्नियाँ हैं, क्योंकि वे भी समुद्र के साथ पतिभाव रखती हैं, तथापि उनके इस सपत्नी-भाव की परवा न करके बडी नदियाँ उनको भी समुद्र तक पहुँचा देती हैं। वे जानती हैं कि ये हमारा अनुग्रह चाहती हैं। अतएव सपत्नियाँ है तो क्या हुआ, इन पर भी

कृपा करनी चाहिए—इनको भी निराश न करना चाहिए। अपने मित्र का अपकार करना कभी अच्छा नहीं। बली पुरुष दंड-प्रयोग के द्वारा शीघ्र नहीं तो विलंब ही से, कभी न कभी, अपने शत्रु को अपना वशंवद बना सकते हैं। परंतु मित्र के मन मे वैमनस्य-भाव उत्पन्न करके, हज़ार मिन्नत-आरज़ू करने और समझाने-बुझाने से भी, उसे प्रसन्न कर देना दुःसाध्य ही समझिए।

आप शायद यह कहते होंगे कि शिशुपाल ने देवताओं को त्रस्त कर रक्खा है। इससे उसके वध से वे लोग बहुत प्रसन्न होंगे। पर, विश्वास कीजिए, देवता लोग यज्ञ मे पुरोडाश के भोग के बड़े ही प्रेमी है। उनको प्रसन्न करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि यज्ञ में उन्हें खूब डट कर पुरोडाश खिलाया जाय। आपकी बदौलत यदि उन्हें वह मोहन-भोग मिल जायगा तो वे उसी से अत्यंत तुष्ट और प्रीत हो जायँगे।

आप अपनी प्रतिज्ञा का भी तो स्मरण कीजिए। आप अपनी पूजनीय बुवा को वचन दे चुके है कि मैं तुम्हारे पुत्र शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करूँगा। तो क्या आप उसका पालन न करेंगे? करना ही पड़ेगा। सूर्य की कृपा से जब एक बार दिन निकल आता है तब १२ घंटे बीत जाने के पहले ही उसका अंत कर देना सूर्य के सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसी तरह आपने प्रतिज्ञा करके शिशुपाल पर जो कृपा की है उस प्रतिज्ञा का अंत होने तक आप भी उसका अंत नहीं कर सकते। सौ अपराध करने तक आपको चुप ही रहना पड़ेगा।

तब तक आप एक काम कीजिए। गुप्तचरों के द्वारा शिशुपाल का भीतरी हाल जान लीजिए। ऐसे जासूसों की योजना कीजिए जो उसकी गुप्त से भी गुप्त बातें जान लें। जो राजे ऐसा नहीं करते वे अंधे के समान हैं, क्योंकि जासूस ही उनकी आँखे हैं। इसके

सिवा आपको ऐसे भी जासूस नियत करने चाहिए जो शिशुपाल की राजधानी में उसी के मुलाज़िम बन कर रहें। वे कूट-नीति और कूट-लेखों के द्वारा शिशुपाल और उसके मंत्रियों आदि में भेद-भाव पैदा कर दें। वे कुछ ऐसे काम करें जिनसे शिशुपाल के मंत्रियों और सेनापतियों आदि का मन शिशुपाल के विषय में कलुषित हो जाय। ऐसा करके वे लोग आपके शत्रुओं को इंद्रप्रस्थ ले आवें। वहाँ उनके सामने ही जब युधिष्ठिर आपका विशेष सम्मान करेंगे तब उन्हें युधिष्ठिर का यह कार्य अवश्य ही असह्य होगा। अतएव वे वहाँ प्रत्यक्ष ही आपके साथ शत्रुता का बर्ताव करेंगे। बस, तभी आपको शिशुपाल के दौरात्म्य का दंड उसे देने के लिए मौका मिल जायगा। जहाँ वह आपके साथ प्रत्यक्ष शत्रुता का बर्ताव करे वहाँ आप उसे यमालय को हवा खिला दें। परमात्मा करे, आपके शत्रु आपके कोपानल मे पतंगवत् जलकर भस्म हो जायँ।

उद्धव की यह सलाह सबको पसंद आई। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ही ने उसी का समर्थन किया। अतएव इंद्रप्रस्थ चलने और वहीं युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मारने का निश्चय हुआ।

फरवरी, १६२२

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

रात अब बहुत ही थोडी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। ज़रा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए। वे आसमान में लंबे पड़े हुए हैं। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका सा है और अगला ऊपर को। वहीं, उनके अधोभाग मे, छोटा सा ध्रुव-तारा कुछ-कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाडी के सदृश है—ऐसी गाडी के सदृश जिसका जुवाँ ऊपर को उठ गया हो। इसी से उनके और ध्रुव-तारा के दृश्य को देख कर श्रीकृष्ण के बालपन की एक घटना याद आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिए एक बार गाडी का रूप बना कर शकटासुर नाम का एक दानव उनके पास आया। श्रीकृष्ण ने पालने में पड़े ही पड़े, खेलते-खेलते, उसे एक लात मार दी। उसके आघात से उसका अग्रभाग ऊपर को उठ गया और पश्चाद्भाग खडा ही रह गया। श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। वही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की अवस्थिति का है। वे तो कुछ उठे हुए से लबे पड़े हैं; छोटा सा ध्रुव उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व-दिशारूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस सी रही है। वह यह सोचती सी है कि इस चंद्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया—जब तक यह मेरी संगति में रहा—तब तक उदित ही नहीं रहा, इसकी दीप्ति भी ख़ूब बढ़ी। परंतु, देखो, वही अब पश्चिम-दिशारूपिणी स्त्री की तरफ जाते ही (हीन-दीप्ति होकर) पतित हो रहा है। इसी से पूर्व-दिशा, चंद्रमा को देख-देख, प्रभा के बहाने, ईर्षा से मुसका सी रही है। परंतु चंद्रमा को

उसके हँसी-मज़ाक़ की कुछ भी परवा नहीं। वह अपने ही रंग में मस्त मालूम होता है। अस्त समय होने के कारण उसका बिंब तो लाल है; पर किरणें उसकी पुराने कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफ़ेद हैं। स्वयं सफ़ेद होकर भी, बिंब की अरुणता के कारण, वे कुछ-कुछ लाल भी हैं। कुंकुममिश्रित सफ़ेद चंदन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफ़ेद किरणों से चंद्रमा पश्चिम-दिग्वधू का शृंगार सा कर रहा है—उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मुख पर चंदन का लेप सा लगा रहा है। पूर्व-दिग्वधू के द्वारा किये गये उपहास की तरफ़ उसका ध्यान ही नहीं।

मद्यपान करने से, नशे के कारण, स्त्रियों के मुख पर लालिमा आ जाती है। इस दशा में मदमाती स्त्रियों की स्वाभाविकी लज्जा जाती रहती है और वे अपने मुँह से घूँघट हटा देती हैं। अरुणोदय हो जाने के कारण पूर्वदिग्रूपिणी स्त्री का भी मुख, इस समय, मदमाती स्त्री ही के मुख के सदृश लाल हो रहा है। घूँघट हट जाने की कसर थी। सो चंद्रमा ने अपनी सफ़ेद-सफेद किरणों का जाल उसके मुख से हटाकर उस कमी की भी पूर्ति कर दी। इस कारण, चंद्रमा की बदौलत, पूर्व-दिगंगना का खुला हुआ अरुण मुख, घूँघट से निकला हुआ सा, बहुत ही शोभायमान हो रहा है।

जब कमल शोभित होते हैं तब कुमुद नहीं और जब कुमुद शोभित होते हैं तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक सी नहीं रहती। परंतु, इस समय, प्रातःकाल, दोनों में तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बंद होने को हैं; पर अभी पूरे बंद नहीं हुए। उधर कमल खिलने को हैं, पर अभी पूरे खिले नहीं। एक की शोभा आधी ही रह गई है और दूसरे को आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनों ही पर मँडरा रहे हैं और गुंजा-रव के बहाने दोनों ही की प्रशंसा के गीत से गा रहे हैं। इसी

से, इस समय, कुमुद और कमल दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे हैं।

सायंकाल जिस समय चंद्रमा का उदय हुआ था उस समय वह बहुत ही लावण्यमय था। क्रम-क्रम से उसकी दीप्ति—उसकी सुंदरता—और भी बढ़ गई। वह ठहरा रसिक। उसने सोचा, यह इतनी बड़ी रात यों ही कैसे कटेगी; लाओ खिली हुई नवीन कुमुदिनियों (कोकावेलियों) के साथ हँसी-मज़ाक ही करें। अतएव वह उनकी शोभा के साथ हास-परिहास करके उनका विकास करने लगा। इस तरह खेलते-कूदते सारी रात बीत गई। वह थक भी गया; शरीर पीला पड़ गया; कर (किरण-जाल) स्रस्त अर्थात् शिथिल हो गये। इससे वह दूसरी दिगंगना (पश्चिम दिशा) की गोद में जा गिरा। यह शायद उसने इसलिए किया कि रात भर के जगे हैं; लाओ अब उसकी गोद में आराम से सो जायँ।

अंधकार के विकट वैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखाई भी नहीं दिये। तथापि उनके सारथि अरुण ही ने, उनके अवतीर्ण होने के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापी पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभव करने की शक्ति रखते हैं उनके अग्रगामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वे ख़ुद ही उसके विपक्षियों का उच्छेद कर डालते है। इस तरह, अरुण के द्वारा अखिल अंधकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफत आ गई। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गई दिन और रात की संधि, अर्थात् प्रातःकालीन सध्या। सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश संध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिए। मधुप-मालाओं से छाये हुए नील कमलों ही को काजल लगी हुई इसकी आँखें

जानिए। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को इसकी तोतली बोली अनुमान कीजिए। ऐसी संध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही है तब पक्षियों के कोलाहल के बहाने यह कहती हुई कि 'अम्मा, मैं भी आती हूँ' वह भी उसी के पीछे दौड गई।

अंधकार गया; रात गई; प्रातःकालीन संध्या भी गई। विपक्षि-दल के एकदम ही पैर उखड गये। तब, रास्ता साफ़ देख, वासर-विधाता भगवान् भास्कर ने निकल आने की तैयारी की। कुलिशपाणि इंद्र की पूर्व दिशा में, नये सोने के समान उनकी पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखाई दिया। आपने वडवानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य्य के उस लाल-पीले किरण-समूह को देख कर ऐसा मालूम होने लगा जैसे वही वाडवाग्नि समुद्र की जलराशि को जला कर, त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से, समुद्र के ऊपर उठ आई हो! धीरे-धीरे दिननाथ का बिंब क्षितिज के ऊपर आ गया। तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुए। ऐसा मालूम हुआ जैसे सूर्य्य का वह बिंब एक बहुत बडा घडा है और दिग्वधुये ज़ोर लगा कर समुद्र के भीतर से उसे खींच रही हैं। सूर्य्य की किरणों ही को आप लंबी-लंबी मोटी रस्सियाँ समझिए। उन्हीं से उन्होंने बिंब को बाँध सा दिया है और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने, वे यह कह-कह कर शोर मचा रही हैं कि खींच लिया है; कुछ ही बाक़ी है; ऊपर आने ही चाहता है; ज़रा और ज़ोर लगाना।

दिगंगनाओं के द्वारा खींच-खाँच कर किसी तरह सागर की सलिल-राशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य्य-बिंब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखाई दिया। अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का

क्यों है। हमारी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब यह पड़ा था तब वाडवाग्नि की ज्वाला ने इसे तपा कर ख़ूब दहकाया होगा। तभी तो खैर (खदिर) के जले हुए कुंदे के अंगार के सदृश, लालिमा लिये हुए यह इतना शुभ्र दिखाई दे रहा है। अन्यथा, आपही कहिए, इसके इतने अंगार-गौर होने का और क्या कारण हो सकता है ?

सूर्य्य-देव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ़ के लायक है। तरफ़दारी तो उसे छू तक नहीं गई—पक्षपात की तो गंध तक उसमें नहीं। देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ; पर क्षण ही भर में उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, किंतु सभी पर्वतों के शिखरों पर फैला कर उन सबकी शोभा बढ़ा दी। उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों—अपने मस्तकों—पर दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों। सच है, उदारशील सज्जन अपने चारु चरितों से अपने ही उदय-देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यायित करते है।

उदयाचल के शिखररूप आँगन मे बालसूर्य्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों को बड़ा प्रमोद हुआ। सुंदर बालक को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव उन्होने अपने कमल मुख के विकास के बहाने हँस-हँस कर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देख कर माँ के सदृश अंतरिक्षदेवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कल-रव के मिस बोल उठी—आ जा, आ जा; आ बेटा, आ। फिर क्या था; बाल-सूर्य बाल-लीला दिखाता हुआ, झट अपने मृदुल कर (किरणें) फैला कर, अंतरिक्ष की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर ज़रा ही देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य्य के दिखाई देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटो या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पडी तो वह जल परिपक्व मदिरा के रंग सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा जैसे सूर्य्य ने अपने किरण-बाणों से अधकाररूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो। कहिए, यह सूझ कैसी है ? बहुत दूर की तो नहीं ?

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिए और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परतु सूर्य्य का उदय अंधकार का नाश करने ही के लिए होता है और तारों की श्रीवृद्धि अंधकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार होकर सूर्य्य को अंधकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पडा—उसे उनको भी ज़बरदस्ती निकाल बाहर करना पडा। बात यह है कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती हैं उनको भी मार भगाना ही पड़ता है— शत्रु के साथ ही उनका भी विनाशसाधन करना ही पडता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्य्योदय होते ही अंधकार भयभीत होकर भागा। भाग कर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुज़ारा न हुआ। सूर्य्य यद्यपि बहुत दूर आकाश में था तथापि उसके प्रबल तेजःप्रताप ने छिपे हुए अंधकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नहीं, किंतु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह

है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य्य और चंद्रमा ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के समान हैं। उनमें से सहस्रकिरणात्मक-मूर्तिधारी सूर्य्य ने उपर उठ कर जब अशेष लोकों का अंधकार दूर कर दिया तब वह खूब ही चमक उठा। उधर बेचारा चंद्रमा किरणहीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्क और दूसरी तेजोहीन हो गई। अतएव ऐसा मालूम हुआ जैसे एक आँख प्रकाशवती और दूसरी अंधीवाला आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभासंपन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों को अत्यानंद ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चंद्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है! दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नहीं बनता। वह बड़ा ही विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य्य को आप दिग्वधुओं का पति समझ लीजिए और यह भी समझ लीजिए की पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश, चला गया था। मौका पाकर, इसी बीच, उसकी जगह पर चंद्रमा आ विराजा। पर ज्योंही सूर्य्य अपना प्रवास समाप्त करके, सबेरे, पूर्व दिशा मे फिर आ धमका त्योंही उसे देख चंद्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह को कपड़े लत्ते के सदृश छोड़, उपपति के समान गर्दन झुका कर, वह पश्चिम-दिशारूप खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान् मधुसूदन जिस समय कल्पांत मे, समस्त

लोकों का प्रलय, बात की बात में, कर देते हैं उस समय अपनी समधिक अनुरागवती श्री (लक्ष्मी) को धारण करके—उन्हे साथ लेकर—क्षीरसागर में अकेले ही जा विराजते हैं। दिन चढ आने पर महिमामय भगवान् भास्कर भी, उसी तरह, एक क्षण में, सारे तारा-लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री (शोभा) के सहित, क्षीरसागर ही के समान आकाश में, देखिए, अब ये अकेले ही मौज कर रहे हैं।

एप्रिल, १९२२

प्राचीन जैन-लेख-संग्रह

एक समय था जब जैन-धर्म्म, जैन-संघ, जैन-मंदिर, जैन-ग्रंथ-साहित्य और जैनों के प्राचीन लेखों के विषय में खुद जैन-धर्म्मावलंबियों का भी ज्ञान बहुत ही परिमित था। साधारण जनों की तो बात ही नहीं, असाधारण जैनी भी इन बातों से बहुत ही कम परिचय रखते थे। इस दशा में और धर्म्म के विद्वानों की अवगति का तो कुछ कहना ही नहीं। वे तो इस विषय के ज्ञान में प्रायः बिलकुल ही कोरे थे। और, प्राचीन दर्रे के, हिंदू-धर्म्मावलंबी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, और फ्रांस, और इँगलैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म्म के अनुयायियों के कीर्ति-कलाप की खोज की ओर भारतवर्ष के साक्षरजनो का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनों के धर्म्म-ग्रंथों तथा जैन-मंदिरों आदि की आलोचना न करते, यदि ये उनके कुछ ग्रंथों का प्रकाशन न करते, और यदि ये जैनों के प्राचीन लेखों की महत्ता न प्रकट करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् ही अज्ञान के अंधकार ही में डूबे रहते।

पश्चिमी देशों के पंडितों की बदौलत ही अपने देश के जैन विद्वानों को अपना घर ढूंढने की बहुत कुछ प्रेरणा हुई। धीरे-धीरे उनकी यह प्रेरणा ज़ोर पकड़ती गई। जैसे-जैसे उन्हे अपने मंदिरों के पुराने पुस्तकालयो मे प्राचीन पुस्तकें मिलती गईं तैसे ही तैसे उनका उत्साह बढ़ता गया। फल यह हुआ कि किसी-किसी जैनेतर

पंडित ने भी जैनों के ग्रंथ-भांडार टटोलने आरंभ किये। इस प्रकार अनेक प्राचीन पुस्तकें प्रकाशित हो गईं। इधर, भारतवर्ष ही में, कुछ विदेशी विद्वानों ने भी जैनियों के ग्रंथों और प्राचीन लेखों के पुनरुद्धार के लिए कमर कसी। उनकी इस प्रवृत्ति और परिश्रम से भी जैन-साहित्य का कुछ-कुछ पुनरुज्जीवन हुआ। अब तो इस काम में कितने ही जैन विद्वान् जुट गये हैं और एक के बाद एक प्राचीन ग्रंथ प्रकाशित करते चले जा रहे हैं।

जैन-धर्म्मावलबियों में सैकड़ों साधु-महात्मा और सैकडों, नहीं हज़ारों, विद्वानों ने ग्रंथ-रचना की है। उनकी इस रचना का बहुत कुछ अंश इस समय अप्राप्य है। कुछ तो अराजकता के कारण नष्ट हो गया, कुछ काल वली खा गया, कुछ कृमि-कीटकों के पेट मे चला गया। तथापि जो कुछ बच रहा है उसे भी थोडा न समझना चाहिए। अब भी जैन-मंदिरों में प्राचीन पुस्तकों के अनेकानेक भांडार विद्यमान हैं। उनमें अनंत ग्रंथ-रत्न अपने उद्धार की राह देख रहे हैं। ये ग्रंथ केवल जैन-धर्म्म ही से संबंध नहीं रखते। इनमें तत्त्व-चिंता, काव्य, नाटक, छंद, अलंकार, कथा-कहानी और इतिहास आदि से भी सबध रखनेवाले ग्रंथ हैं, जिनके उद्धार से जैनेतर जनों की भी ज्ञान-वृद्धि और मनोरंजन हो सकता है। भारतवर्ष में जैन-धर्म्म ही एक ऐसा धर्म्म है जिसके अनुयायी साधुओं (मुनियों) और आचार्य्यों में अनेक जनों ने, धर्मोपदेश के साथ-ही-साथ, अपना समस्त जीवन ग्रंथ-रचना और ग्रंथ-संग्रह मे ख़र्च कर दिया है। बरसात के चार महीने तो, इनमें से कितने ही विद्वान् बहुधा केवल ग्रंथ-लेखन ही में बिताते रहे हैं। यह इनकी इसी सत्प्रवृत्ति का फल है जो बीकानेर, जैसलमेर और पाटन आदि स्थानों में हस्त-लिखित पुस्तकों के गाडियों बस्ते अब भी सुरक्षित पाये जाते हैं।

मंदिर-निर्माण और मूर्त्ति-स्थापना भी जैन-धर्म्म का एक अंग समझा जाता है। इसी से इन लोगों ने इस देश में हज़ारों मंदिर बना डाले हैं और हज़ारों का जीर्णोद्धार कर दिया है। मूर्त्तियों की कितनी स्थापनायें और प्रतिष्ठायें की हैं, इसका तो हिसाब ही नहीं। उनकी गिनती तो शायद लाखों तक पहुँचे। पर वे इस काम में भी अपने साहित्य-प्रेम को नहीं भूले। मंदिरों में इन लोगों ने बड़े-बड़े लेख और प्रशस्तियाँ खुदवा दी हैं। उनमें से कोई-कोई लेख इतने बड़े हैं कि उन्हें छोटे-मोटे खंड-काव्य ही कहना चाहिए। यहाँ तक कि मूर्त्तियों तक में उनके प्रतिष्ठापकों और निर्म्मातात्रों के नामनिर्देश आदि के सूचक छोटे-छोटे लेख पाये जाते हैं। यदि इन सबका संग्रह प्रकाशित किया जाय तो शायद महाभारत के सदृश एक बहुत बड़ा ग्रंथ हो जाय। मंदिरों और मूर्त्तियों के ये प्राचीन लेख इतिहास की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व के हैं। इनमें उस समय के राजों, राजकुमारों, मंत्रियों, बादशाहों, शाहज़ादों आदि का भी, सन्-संवत्-समेत, उल्लेख है और निर्म्मातात्रों तथा उद्धारकों की भी वंशावली आदि है। इसके सिवा जैनसंघों और जैनाचार्य्यों आदि की वंश-परंपरा के साथ और भी कितनी ही बातों का वर्णन है। जैनों के कोई-कोई तीर्थ ऐसे हैं जहाँ इस प्रकार के प्राचीन लेख अधिकता से पाये जाते हैं। पर तीर्थों ही में नहीं, छोटे-छोटे गाँवों तक के मंदिरों में प्राचीन लेख देखे जाते हैं। इन लेखों में जैन साधुओं के कार्य्यकलाप का भी वर्णन मिलता है। किस साधु या किस मुनि ने कौन-सा ग्रंथ बनाया और कौन-सा धर्म्म-वर्द्धक कार्य किया, ये बातें भी अनेक लेखों में निर्दिष्ट हैं। अकबर इत्यादि मुग़ल-बादशाहों से जैन-धर्म्म को कितनी सहायता पहुँची, इसका भी उल्लेख कई लेखों में है।

जैनों के इस तरह के सैकड़ों प्राचीन लेखों का संग्रह, संपादन

और आलोचन विदेशी और कुछ स्वदेशी विद्वानों के द्वारा हो चुका है। उनका अँगरेज़ी-अनुवाद भी, अधिकांश में, प्रकाशित हो गया है। पर किसी स्वदेशी जैन पंडित ने इन सबका संग्रह, आलोचना-पूर्वक, प्रकाशित करने की चेष्टा नही की थी। महाराजा गायकवाड़ के कृपा-कटाक्ष की बदौलत पुरानी पुस्तको के प्रकाशन का जो कार्य्य, बडौदे में, कुछ समय से, हो रहा है उसके कार्य्य-कर्त्ताओ ने भी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, यद्यपि जैनों के कितने ही प्राचीन मदिर, लेख और ग्रंथ बडौदा-राज्य में विद्यमान हैं। इस काम मे अब हाथ लगाया है एक साधु—मुनि जिन-विजय—ने। गुजरात-विद्यापीठ ने, अहमदाबाद में, एक गुजरात-पुरातत्त्व-संशोधन-मंदिर की संस्थापना की है। मुनि महाशय उसी मंदिर के आचार्य्य हैं। यद्यपि भारत में जैन-ग्रंथ और जैन-मंदिर थोड़े बहुत सब कहीं पाये जाते हैं, तथापि दक्षिणी भारत, गुजरात और राजपूताने ही में उनका आधिक्य है। क्योंकि जैन-धर्म्म का प्राबल्य उन्हीं प्रांतो में रहा है और अब भी है। अतएव अहमदाबाद में इस प्रकार के संशोधन-मंदिर की स्थापना होना सर्वथा समुचित है। इंडियन ऐंटिक्वरी, इपी-ग्राफिआ इडिका, सरकारी गैज़ेटियरों और आर्कियालाजिकल रिपोर्टों तथा अन्य पुस्तकों में जैनों के कितने ही प्राचीन लेख प्रकाशित हो चुके हैं। बूलर, कौसेंस, किस्टें, विल्सन, हुल्ट्श, केलटर और कीलहार्न आदि विदेशी पुरातत्त्वज्ञों ने बहुत-से लेखों का उद्धार किया है। पर इन पुस्तको के लेखकों से कहीं-कहीं प्रमाद हो गये हैं। अतएव पुराने प्रमादों के दूरीकरण और समस्त प्राचीन लेखों के प्रकाशन के लिए ऐसे संशोधन-मंदिर की बड़ी आवश्यकता थी। संतोष की बात है, यह आवश्यकता, इस तरह, दूर हो गई।

इस संशोधन-मंदिर के कार्य्य-कर्त्ताओं ने "प्राचीन जैन-लेख-संग्रह" नाम का एक ग्रंथ निकाला है। उसका दूसरा भाग हमारे सामने

है। पहला भाग हमारे देखने में नहीं आया। वह शायद कभी पहले निकल चुका है। दूसरा भाग बहुत बड़ा ग्रंथ है। आकार भी बडा है। पृष्ठ-संख्या आठ सौ से कुछ कम है। सूचियों आदि को छोड़ कर पुस्तक मुख्यतया दो भागों विभक्त है। पहले भाग में जैनों के ५५७ प्राचीन लेखों की नक़ल है। ये लेख देवनागरी के मोटे टाइप में छपे हैं। लेखों की भाषा अधिकांश संस्कृत है। दूसरे भाग के ३४४ पृष्ठों में पहले भाग के लेखों की आलोचना है। यह भाग गुजराती भाषा में है और गुजराती ही टाइप में छपा है। आरंभ की भूमिका आदि भी गुजराती ही में है।

जैनियों के दो संप्रदाय हैं—एक दिगंबर, दूसरा श्वेतांबर। दिगंबर-संप्रदाय का विशेष दौरदौरा दक्षिणी भारत ही में रहा है और अब भी है। श्वेतांबर-संप्रदाय का अधिक प्रचार पश्चिमी भारत और राजपूताने में है। इस पुस्तक में, इसी से, अधिकांश श्वेतांबर-संप्रदाय ही के लेखों का संग्रह किया गया है, क्योंकि वे सारे लेख पश्चिमी भारत और राजपूताने ही से सबंध रखते हैं। जैनों के प्राचीन लेख तीन प्रकार के हैं—

(१) पत्थर की पटियों पर खोदे हुए लेख।
(२) मूर्त्तियों पर खोदे हुए लेख।
(३) ताम्रपत्रों पर खोदे हुए लेख।

इस पुस्तक में जिन लेखों का संग्रह है वे पत्थर की पटियों और पत्थर ही की मूर्त्तियों पर उत्कीर्ण लेख है। धातु की मूर्त्तियों पर भी हज़ारों लेख पाये जाते है; पर वे छोड दिये गये हैं। साथ ही ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण लेखों का भी समावेश नही किया गया। यह छोड़ा छाडी करने पर भी लेखो की संख्या पाँच सौ के ऊपर पहुँच गई है। इनमें से कितने ही लेख बहुत बड़े हैं।

आज तक यद्यपि सैकड़ों—किंबहुना इससे भी अधिक—जैन-लेख

प्रकाशित हो चुके हैं। पेरिस (फ्रांस) के एक फ्रेंच पंडित, गेरिनाट, ने अकेले ही, १९०७ ईसवी तक के, कोई ८५० लेखों का संग्रह प्रकाशित किया है। पर उसमें श्वेतांबर और दिगंबर, दोनों संप्रदायों के लेखों का सन्निवेश है। तथापि हज़ारों लेख अभी ऐसे पड़े हुए हैं जो प्रकाशित नहीं हुए। मुनि महाशय ने, अपनी प्रस्तुत पुस्तक में, भिन्न-भिन्न पुस्तकों और रिपोर्टों से भी अपने मतलब के लेख उद्धृत किये हैं, और स्वयं अपनी खोज से भी सैकड़ों नये-नये लेखों का समावेश किया है। उदाहरणार्थ, आबू के लेखों की संख्या २०८ है। पर उनमें से केवल ३२ लेख एपिग्राफ़िआ इंडिका के आठवें भाग में प्रकाशित हो चुके हैं। बाक़ी के सभी लेख इस पुस्तक में पहले ही पहल छापे गये हैं। यही बात औरों के विषय में भी जाननी चाहिए।

पुस्तक के पहले भाग में संख्या-सूचक अंक, यथाक्रम, देकर लेख रक्खे गये हैं। दूसरे भाग में उसी क्रम से लेखों की समालोचना की गई है। कौन लेख कहाँ मिला है, किस समय का है, पहले कभी प्रकाशित हुआ है या नहीं, उससे उस समय की कौन-कौन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है, उस समय विशेष करके उस प्रांत की राजकीय और सामाजिक स्थिति कैसी थी, जैन-संघों की स्थिति कैसी थी, किस संघ की परंपरा में कौन आचार्य्य कब हुआ, इन सब बातों का विचार आलोचनाओं में किया गया है। उल्लिखित साधुओं और आचार्य्यों की शिष्य-मंडली में कौन-कौन व्यक्ति नामी हुआ और उसने किस-किस ग्रंथ की रचना की, इसका भी उल्लेख किया गया है। पूर्व-प्रकाशित लेखों के संपादकों की भूलों का भी निदर्शन किया गया है और यह भी दिखलाया गया है कि पुस्तकस्थ लेखों में निर्दिष्ट घटनाओं और प्रसिद्ध पुरुषों के अस्तित्व-समय के जो उल्लेख अन्यत्र मिलते हैं उनसे इन लेखों में किये गये उल्लेखों से कहाँ तक मेल है—यदि कहीं मेल नहीं, तो उल्लिखित सन्-संवतों में से

कौन-सा सन्-संवत् अधिक विश्वसनीय है। सबसे पुराना लेख इस पुस्तक में नंबर ३१८ है। उसका प्राप्ति-स्थान हस्तिकुंडी और समय विक्रम-संवत् ९९६ है। इसी तरह सबसे नया लेख नंबर ५५६ है। वह संवत् १९०३ का है और अहमदाबाद में मिला है। इस प्रकार विक्रम की दसवीं शताब्दी से लेकर—बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक के—कोई एक हज़ार वर्ष तक के—लेखों का संग्रह इस पुस्तक में हैं। इससे पाठक इस संग्रह के महत्त्व का अनुमान अच्छी तरह कर सकेंगे। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के लेखों की संख्या औरों से अधिक है। उस समय जैन-धर्म्म बड़ी उन्नत दशा में था। अनेक राजे, महाराजे, अमात्य और सेठ-साहूकार उस समय इस धर्म्म के अनुयायी हो गये हैं। उन्होंने अनंत मूर्त्तियों, मंदिरों और प्रासादों की संस्थापना की और बहुतों का जीर्णोद्धार भी किया।

इस संग्रह में सबसे अधिक महत्त्व के वे लेख हैं जिनका संबंध शत्रुंजय-तीर्थ, गिरिनार-पर्वत और अर्बुदगिरि अर्थात् आबू से है। और भी कितने ही पुराने नगरों, गाँवों और तीर्थों के लेख ऐतिहासिक सामग्री से परिप्लुत हैं या उससे संपर्क रखते हैं। तथापि उल्लिखित तीनों स्थानों के लेख महत्ता में सबसे अधिक हैं। शत्रुंजय-तीर्थ के लेखों की संख्या ३८, गिरिनार-पर्वत के लेखों की २५ और आबू के लेखों की २०८ है। इस प्रकार इन तीन जगहों के लेखों की संख्या २७१ हुई। अतएव कुल ५५७ में २८६ लेख और स्थानों के हैं; बाक़ी इन्हीं तीनों जगहों के हैं।

जैनियों का शत्रुंजय-तीर्थ गुजरात के पालीताना-नामक स्थान के पास है। उसका १२ नंबर का शिला-लेख बड़े मार्के का है। उसमें ६८ श्लोक हैं। इस तीर्थ में मूलमंदिर नाम की एक इमारत है। खंभात (बंदर) के रहनेवाले सेठ तेजपाल सौवर्णिक ने, १६५० संवत् में, उसका जीर्णोद्धार किया था। यह लेख उसी जीर्णोद्धार

से संबंध रखता है। तेजपाल अमीर आदमी था। विख्यात जैन विद्वान् हीरविजय सूरि के उपदेश से उसने यह उद्धार कराया था। लेख में उद्धारकर्त्ता के वंश आदि का वर्णन तो है ही, हीरविजय सूरि के पूर्ववर्ती आचार्य्यों और उनके शिष्यों का भी वर्णन है। ये वही हीरविजय हैं जिनको अकबर ने गुजरात से सादर बुला कर उनका सम्मान किया था और उनकी प्रार्थना पर साल मे कुछ दिनों तक के लिए प्राणिहिंसा बंद कर दी थी। जज़िया-नामक कर भी माफ़ कर दिया था। इस लेख में हीरविजय सूरि के विषय में लिखा है—

देशाद् गूर्जरतोऽथ सूरिवृषभा आकारिताः सादरम् ;
श्रीमत्साहि-अकब्बरेण विषयं मेवातसंज्ञं शुभम्।

× × ×

यदुपदेशवशेन मुदं दधन् निखिलमंडलवासिजने निजे ;
मृतधनं च करं च सुजीजिआ-भिधमकब्बरभूपतिरत्यजत्।

इससे यह भी सूचित हुआ कि किसी के मर जाने पर उसका धन जो ले लिया जाता था उसका लेना भी अकबर ने बंद कर दिया।

कई वर्ष पूर्व हीरविजय सूरि का विस्तृत चरित प्रकाशित हो चुका है। उसमें भी इन बातों का वर्णन है। इस लेख का सारांश लिखने में संपादक महाशय ने एक जगह लिखा है—"अने पोतानी पासे जे म्होटो पुस्तक भंडार हतो ते सूरिजी ने समर्पण कर्य्यो।" पर मूल लेख से यह बात साबित नहीं होती। उसमे तो सिर्फ़ इतना ही लिखा है कि

यद्वाग्भिर्मुदितश्चकार करुणास्फूर्जन्मनाः पौस्तकं ;
भाण्डागारमपारवाङ्मयमयं वेश्मेव वाग्दैवतम्।

इसका अन्वय इस प्रकार हो सकता है—" (यः अकब्बरः)

अपारवाङ्मयमयं पौस्तकं भाण्डागारं, वाग्दैवतं वेश्मेव, चकार ।"
अर्थात् जिस अकबर ने अपार वाङ्मयमय पुस्तकागार, सरस्वती के घर के सदृश, (निर्म्माण) किया। इससे इतना ही सूचित होता है कि अकबर ने हीरविजय सूरि की आज्ञा या प्रार्थना से कोई पुस्तकालय खोला, यह नहीं कि उसने अपना पुस्तक-संग्रह सूरिजी को दे डाला।

जीर्णोद्धार किये गये इस मंदिर की प्रतिष्ठा सेठ तेजपाल ने, संवत् १६५० में, हीरविजय सूरि से कराई। खंभात से वह वहाँ ख़ुद आया और प्रतिष्ठापन-कार्य्य का संपादन किया। यथा—

शत्रुञ्जये गगनबाणकलामितेऽब्दे
यात्रां चकार सुकृताय स तेजपालः ;
चैत्यस्य तस्य सुदिने गुरुभिः प्रतिष्ठा
चक्रे च हीरविजयाभिधसूरसिंहैः ।

विक्रम-संवत् की तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के अणहिल्लपुर (वर्तमान पाटन) नगर में चौलुक्य-वंशी वीरधवल-नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा पंडित था और सुकवि भी था। उसकी रची हुई कितनी ही पुस्तकों का पता चला है। कुछ शायद प्रकाशित भी हो गई हैं। उसका प्रधान सचिव था वस्तुपाल। उसके एक भाई का नाम था तेजपाल। पर यह तेजपाल खंभात-निवासी सेठ तेजपाल नहीं। वस्तुपाल तो वीरधवल का महामात्य था और साथ ही महाकवि भी था, महादानी भी था और महाधार्म्मिक भी था। उसका भाई धवलका-नगर (वर्तमान धोलका) में मुद्रा-व्यापार अर्थात् रुपये-पैसे का रोज़गार करता था। वह शायद गुर्जर-नरेश का अमात्य भी था। इन दोनों भाइयों ने गिरिनार-पर्वत पर कितने ही मंदिर बनवाये और लंबे-लंबे लेख खुदवा कर अपने कीर्ति-कलाप का उल्लेख कराया। गिरिनार के लेखों में से पहले ६ लेखों में इन दोनों

भाइयों के वंशादि तथा कार्य्यों का विस्तृत वर्णन है। इन लेखों में से कुछ लेख तो डॉक्टर जेम्स बर्जेस ने पहलेपहल प्रकाशित किये थे। पर पीछे से सभी लेख एक और अँगरेज़ी-पुस्तक (The Revised Lists of Antiquarian Remains in the Bombay Presidency, Vol , VIII) मे प्रकाशित हुए हैं। "गिरिनार इंसक्रिप्शंस"-नामक पुस्तक मे भी ये छपे है। पर मुनिवर जिनविजयजी का कहना है कि उनके अँगरेज़ी-अनुवाद में बहुत भूलें रह गई हैं। उनका निरसन आपने अब अपनी इस पुस्तक में कर दिया है और टीका-टिप्पणियों तथा आलोचनाओं के द्वारा उनका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बढ़ा दिया है।

विक्रम-संवत् १२८८ के एक शिला-लेख में वस्तुपाल की दानशीलता का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> भित्वा भानुं भोजराजे प्रयाते
> श्रीमुञ्जेऽपि स्वर्गसाम्राज्यभाजि ।
> एकः सम्प्रत्यर्थिनां वस्तुपाल-
> स्तिष्ठत्यश्रुस्पंदनिष्कंदनाय ॥ ४ ॥
> पुरा पादेन दैत्यारेर्भुवनोपरिवर्तिना
> अधुना वस्तुपालस्य हस्तेनाधः कृतो बलिः ॥ ८ ॥

अर्थात् भोज परलोक पधारे; मुंज ने भी स्वर्ग-साम्राज्य पाया; अब वैसा कोई नहीं रहा। अब तो अर्थिजनों की अश्रुधारा पोंछने के लिए बस अकेला वस्तुपाल ही है। सत्ययुग में विष्णु भगवान् ने अपना पैर ऊपर को बढ़ा कर बलि को पाताल भेज दिया था। इस समय, कलियुग में, वस्तुपाल ने अपने हाथ से उस बेचारे को नीचे कर दिया।

गिरिनारवाले वस्तुपाल के इन लेखों मे गद्य भी है और पद्य भी। रचना सरस और सालंकार है। ये लेख वस्तुपाल और तेजपाल

के बनवाये गिरिनार के जैन-मंदिरों में शिला-फलकों पर खुदे हुए हैं। वस्तुपाल जैन-धर्म्म का पक्का अनुयायी था। उसने उसके उत्कर्ष के लिए असंख्य धन दान किया। उसके खुदवाए हुए लेखों में जैन-कवियों ने उसके गुणों की बड़ी प्रशंसा की है।

इतिहास की दृष्टि से आबू-पर्वत के जैन-मंदिरों में खुदे हुए लेख बड़े महत्त्व के हैं। उनमें चालुक्य और परमारवंशी राजों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। ये लेख बड़े-बड़े हैं। इनकी संख्या २०८ है। इनमें से ६८ लेख अकेले एक ही मंदिर में हैं। इस मंदिर का नाम है—"लूणसिंह वसहिका"। आबू के प्राचीन लेखों में से कुछ लेख तो भिन्न-भिन्न कई पुस्तकों में पहले भी प्रकाशित हो चुके हैं। पर सब लेख कहीं नहीं छपे। वे अब पहली ही बार इस पुस्तक में संगृहीत हुए हैं। आबू में भी गिरिनार की तरह पूर्वोक्त बंधुद्वय, वस्तुपाल और तेजपाल, की तूती बोल रही है। ये दोनों भाई आबू में भी अतुल धन खर्च करके मंदिरों का निर्माण और मूर्त्तियों की संस्थापना कर गये हैं। इन मंदिरों की कारीगरी ग़ज़ब की है। बड़े-बड़े इंजीनियर और शिल्प-कला-कुशल लोग भी इन्हें देखकर हैरत में आ जाते हैं। इन लेखों की कोई-कोई कविता बड़ी ही हृदय-हारिणी है। उसके दो एक उदाहरण लीजिए—

तस्यानुजो विजयते विजितेन्द्रियस्य
सारस्वतामृतकृताद्भुतहर्षवर्षः ;
श्रीवस्तुपाल इति भालतलस्थितानि
दौस्थ्याक्षराणि सुकृती कृतिनां विलुम्पन्।

अर्थात् वस्तुपाल अमृतवर्षी कवि है और विद्वानों के भालतल पर लिखे गये दुरक्षरों को मिटानेवाला है।

अन्वयेन विनयेन विद्यया विक्रमेण सुकृतक्रमेण च ;
क्वापि कोऽपि न पुमानुपैति मे वस्तुपाल सदृशो दृश-पथि।

अर्थात् वंश, विनय, विद्या, विक्रम और पुण्य के संबंध में वस्तुपाल की बराबरी करनेवाला कोई नहीं। वस्तुपाल की पत्नी ललितादेवी और पुत्र जैतसिंह की प्रशंसा में भी कितनी ही उक्तियाँ हैं। इसी तरह उसके भाई तेजपाल का भी खूब गुण-गान किया गया है।

मारवाड में मेडता-नामक नगर से १४ मील पर एक गाँव है—केकिंद। वहाँ पार्श्वनाथ के मंदिर मे जो शिला-लेख है उसमें राष्ट्रकूट अर्थात् राठौड-वंश के कितने ही राजों का वर्णन है। यथा—मालदेव, उदयसिंह और सूरसिंह। ये सब मरुदेश ही के नरेश थे। उदयसिंह के विषय में लिखा है—

राज्ञां समेषामयमेव वृद्धो वाच्यस्तदन्यैरथ वृद्धराजः।
यस्येति शाहिर्विरुदं स्म दद्यादकब्बरो बब्बरवंशहंसः॥ १२॥

अर्थात् बाबरवंश के राजहंस अकबर ने यह आज्ञा दी कि उदयसिंह को लोग वृद्धराज कहा करें, क्योंकि वे सब नरेशों में वयोवृद्ध हैं। उदयसिंह के बेटे सूरसिंह की तारीफ़—

राज्यश्रियां भाजनमिद्धधामा प्रतापमन्दीकृतचण्डधामा।
सपत्ननागावलिनाशसिंहः पृथ्वीपती राजति सूरसिंहः॥ १४॥
सुरेषु यद्वन्मघवा विभाति यथैव तेजस्विषु चण्डरोचिः।
न्यायानुयायिष्विव रामचन्द्रस्तथाधुना हिन्दुषु भूधवोऽयम्॥ १६॥

पिछले पद्य में "हिन्दुषु" पद ध्यान में रखने लायक है।

अच्छा तो इस उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का इतना ही परिचय बहुत हो गया। जो लोग गुजराती नहीं जानते, पर संस्कृत के प्राचीन लेखों और पुस्तकों के प्रेमी हैं, वे भी इस पुस्तक के अवलोकन और संग्रह से लाभ उठा सकते हैं। और नहीं तो, इसके कितने ही लेखों के सरस पद्यों से अपना मनोरंजन अवश्य ही कर सकते हैं।

जून, १९२२

जगद्धर भट्ट की स्तुति-कुसुमांजलि

जिनके हृदय कोमल हैं, अर्थात् अलंकार-शास्त्र की भाषा में जो सहृदय हैं, उन्हीं को सरस काव्य के आकलन से आनंद की यथेष्ट प्राप्ति हो सकती है। संभव है, औरों को भी तन्मयता की कुछ प्राप्ति हो—हास्य-रस से परिप्लुत कोई उक्ति सुन कर वे भी हँस पड़ें या किसी का करुणात्मक विलाप सुन कर कुछ दुःखानुभव करने लगें—पर सहृदयों की जैसी तन्मयता का अनुभव उन्हें नहीं हो सकता। इसकी परीक्षा करनी हो तो किसी अभिनय को देखने जाइए और दर्शकों के बीच जाकर बैठिए। कल्पना कीजिए कि हरिश्चंद्र-नाटक का अभिनय हो रहा है और शैव्या विलाप कर रही है। आप देखेंगे कि कुछ दर्शक तो रो रहे हैं, कुछ केवल उदासीन हैं और कुछ पर विलाप का ज़रा भी असर ज्ञात नहीं होता—वे पान खाने, सिगरेट पीने या पास बैठे हुओं से धीरे-धीरे अप्रासंगिक गप्पें लड़ा रहे हैं। बात यह है कि जिसका हृदय जैसा होता है, तदनुसार ही उस पर बाहरी दृश्यों का असर भी पड़ता है। हृदय तो सबके होता है; पर सब हृदयों की ग्राहिका शक्ति एकसी नहीं होती। अतएव यह निश्चय समझिए कि रसवती कविता से भी सबको एकसा आनंद अथवा एकसा रसानुभव नहीं हो सकता।

मोटे तौर पर कह सकते हैं कि विकारों ही का नाम रस है। जो विकार सबसे अधिक प्रबल होता है वही रसत्व की संज्ञा पाता है। शृंगार-संबंधी भाव प्रबल हुआ तो शृंगार-रस हो गया; हास्य-परिहास-संबंधी भाव प्रबल हुआ तो हास्य-रस हो गया। इसी तरह और भी जानिए। अलंकारशास्त्रियों ने इन प्रधान विकारों या

रसों की संख्या निश्चित कर दी है। काव्य में उन्होंने ९ रस माने हैं, यथा—

(१) शृंगार	(६) भयानक
(२) हास्य	(७) अद्भुत
(३) करुणा	(८) बीभत्स
(४) वीर	(९) शांत
(५) रौद्र	

जिस कविता में जो भाव, विकार या रस प्रधान होता है वह कविता उसी रस में डूबी हुई समझी जाती है और सहृदयों को उसी का सबसे अधिक अनुभव होता है। परंतु, जैसा ऊपर कहा गया है, सहृदयता में भी भेद होता है। किसी म वह कम होती है, किसी में अधिक। जिसमे जितनी ही अधिक सहृदयता होती है उसे उतना ही अधिक रसानुभव भी होता है—वही कवि के हृदय के सबसे अधिक पास पहुँच जाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि उसका और कवि का हृदय एक हो जाता है। कवितागत प्रधान रस जितना ही अधिक उद्दाम होता है सहृदयों के हृदय पर उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक पडता है। कविता में यदि हास्य-रस की मात्रा काफ़ी है तो उसे सुनते ही सहृदयों को हँसी आ जाती है। यदि उसमे करुण-रस का यथेष्ट परिपाक है तो उनकी आँखों मे आँसू आ जाते हैं। यदि उसमें शांत-रस भरा हुआ है तो सहृदयों के हृदय मे शांति का आविर्भाव हो जाता है। अच्छी कविता वही है जिसमें रस ख़ूब हो—फिर चाहे पूर्व निर्दिष्ट नौ रसों में से जो हो—और जिसे पढ़ कर या सुन कर सहृदय फडक उठें।

जिसमे किसी देवता की स्तुति हो उस कविता को साहित्य-शास्त्रज्ञों ने शांतरस ही के अंतर्गत माना है अर्थात् जिस कविता में किसी देवता के संबध मे रति-नामक भाव की विशेषता होती है

वह शांतरस ही की कविता मानी जाती है। यह हो सकता है। परंतु कुछ विद्वानों ने तीन और रसों की भी कल्पना की है—दास्य, सख्य और वात्सल्य। दास-भाव, सख्य-भाव और वत्सल-भाव प्रधान होने से इन रसों की अवतारणा होती है। इस हिसाब से यदि कोई भक्त अपने को अपने इष्ट-देवता का दास मान कर दास्य-भाव-पूर्ण उक्तियाँ कहे तो उन उक्तियों में दास्य-रस ही अधिक परिस्फुट होता है। किसी देवता-विशेष या परमेश्वर की स्तुतियों में यह भाव प्रायः अधिकता से पाया जाता है। ऐसी कविता में दासता ही का भाव प्रबल होता है, शांति का नहीं। अस्तु, इस प्रकार की स्तुतिमय कविताओं में चाहे शांतरस माना जाय चाहे दास्य-रस, उनसे कोमल-हृदय भावुक जनों के हृदय हिल ज़रूर उठते हैं। और हृदय का हिल उठना ही इस बात का प्रमाण है कि कविता सरस है और उसका आकलनकर्ता सहृदय है। ऐसी कविता के दो-एक उदाहरण सुनिए। पद्माकर की एक उक्ति है—

व्याधहू तें बिहद (बधिक ?) असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह सों गुनाही कहो तिनमें गनाओगे ;
गणिका हौं न गीध हौं न केवट कहूँ को न,
गौतमी तिया हौं जापै पद धरि आओगे।
राम सों कहत पद्माकर पुकारि तुम,
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे,
सीता-सी सती को तज्यो बिनाहू कलंक,
हौं तो साँचोहू कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे।

यह कुछ पुरानी उक्ति है। इससे मिलती-जुलती एक नई उक्ति लीजिए। वह प्रतापनारायण मिश्र की है—

आगे रहे गणिका गज गीध सुतौ अब कोऊ दिखात नहीं हैं ;
पापपरायन ताप भरे परताप समान न आन कहीं हैं।

हे सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तो भले औ बुरे सब ही हैं ;
दीनदयाल औ दीन प्रभो तुमसे तुमहीं हमसे हमहीं हैं ।

इन दोनों उक्तियों की भाषा है हिंदी-कविता की पुरानी भाषा । पर भाषा चाहे जैसी हो सरसता सभी भाषाओं की कविता में आ सकती है । नीचे बाबू सियारामशरण की एक कविता दी जाती है । वह बोल-चाल की भाषा में है । पाठक देखेंगे कि उसमें शांत या दास्य-रस की मात्रा कितनी अधिक है । उसमें यह रस ऊपर दिये गये दोनों उदाहरणों से यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं । देखिए—

क्षुद्रसी हमारी नाव चारों ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं ;
शीघ्र निगल जाने को ये नौका के चारों ओर,
सिंधु की तरंगें सौ-सौ जिह्वायें पसारे हैं ।
हारे सभी भाँति हम अब तो तुम्हारे बिना,
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं ;
और क्या कहें अहो डुबा दो या लगा दो पार,
चाहे जो करो शरण्य शरण तुम्हारे हैं ।

हमारा अनुमान ही नहीं, अनुभव भी यही कहता है कि ऐसी कविताओं के पाठ से कोमल-हृदयों का हृदय द्रवीभूत हुए बिना नही रह सकता । और रसों की कविता के पाठ से भी तल्लीनता प्राप्त हो सकती है, पर इस प्रकार की कविता में बहुत बड़ी विशेषता होती है । उसका संबंध किसी देवता से होने के कारण काव्य-कर्त्ता या काव्य-पाठक के हृदय में एक अलौकिक भाव का उदय हो उठता है और वह उतने समय के लिए किसी दिव्य लोक में विचरण-सा करने लगता है । उस समय सांसारिक भावों का एकदम तिरोभाव-सा हो जाता है और मनुष्य कुछ-का-कुछ हो जाता है । और और

रसों की कविता के पाठ के प्रभाव से पाठकों के शरीर पर जो चिह्न या अनुभाव प्रकट होते हैं उनकी अपेक्षा इस प्रकार की तथा करुण-रस की कविता के पाठ से उत्पन्न चिह्न बहुत अधिक प्रबल होते हैं। अतएव औरों से अधिक दृग्गोचर भी होते हैं। सांसारिक आपदाओं के जाल में फँसे हुए भावुक जन जिस समय श्रीमद्भागवत की प्रह्लादस्तुति के पाठ में लीन हो जाते हैं अथवा जिस समय वे ऊपर नक़ल की गई कविता के सदृश कविता सुना कर किसी देवता से आत्मनिवेदन करते हैं उस समय वे अपना तत्कालीन दुःख ही नहीं भूल जाते, किंतु वे इस दुःखमूल जगत् के अस्तित्व तक को भूल जाते हैं। उस समय उन्हें एक विलक्षण प्रकार की विकलता आ घेरती है, उनका शरीर कंटकित हो जाता है, और उनकी आँखों से आँसुओं की धारायें बह निकलती हैं। अँगरेज़ी भाषा के एक कवि का कथन है कि धन्य हैं वे जन जिनको इस प्रकार रोना आता है। इस रोने में सचमुच ही एक अलौकिक आनंद छिपा रहता है। उसका अनुभव वही कर सकते हैं जो उस दशा को प्राप्त होते हैं। अतएव जिस कविता के पाठ या श्रवण से ऐसे अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो उसे कोई यदि और सब रसों की कविता से श्रेष्ठ समझे तो उसकी ऐसी समझ के संबंध में विशेष आक्षेप के लिए जगह नहीं। सांसारिक तापों से तप्त होने पर भक्त जब अपने इष्टदेव की शरण जाता है तब भावावेश में कभी तो वह उसकी स्तुति करता है, कभी उसका उपालंभ करता है और कभी अपनी दुरवस्था पर विलाप करता है। उस समय उसकी अश्रुवर्षा से यदि और कुछ नहीं होता तो उसके हृदय का दुःखभार तो ज़रूर ही हलका हो जाता है। इसकी सत्यता का प्रमाण सभी भावुक भक्त दे सकते हैं।

आज हम एक ऐसे महाकवि का संक्षिप्त परिचय कराते हैं जिसने दास्य, शांत या करुण-रस ही की कविता-रचना द्वारा, महादेवजी से

आत्म-निवेदन करने में ही, अपनी सारी कवित्व-शक्ति खर्च कर दी। उसका यह आत्म-निवेदन संस्कृत-भाषा में है। उसके ३९ खंड हैं। एक को छोड कर वे सभी खंड या स्तोत्र स्तुतिमय हैं। उनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

(१) स्तुतिप्रस्तावनास्तोत्र
(२) नमस्कारस्तोत्र
(३) आशीर्वादस्तोत्र
(४) मंगलाष्टकस्तोत्र
(५) कविकाव्यप्रशंसास्तोत्र
(६) हराष्टकस्तोत्र
(७) सेवाभिनंदनस्तोत्र
(८) शरणाश्रयणस्तोत्र
(९) कृपणाक्रंदनस्तोत्र
(१०) करुणाक्रंदनस्तोत्र
(११) दीनाक्रंदनस्तोत्र
(१२) तमःशमनस्तोत्र
(१३) प्रभुप्रसादनस्तोत्र
(१४) हितस्तोत्र
(१५) करुणाराधनस्तोत्र
(१६) उपदेशनस्तोत्र
(१७) भक्तिस्तोत्र
(१८) सिद्धिस्तोत्र
(१९) भगवद्वर्णनस्तोत्र
(२०) हसितवर्णनस्तोत्र
(२१) अर्धनारीश्वरस्तोत्र
(२२) कादिपदबंधनस्तोत्र

(२३) शृंखलाबंधस्तोत्र
(२४) द्विपदयमकस्तोत्र
(२५) रुचिररंजनस्तोत्र
(२६) पादादियमकस्तोत्र
(२७) पादमध्ययमकस्तोत्र
(२८) पादांतयमकस्तोत्र
(२९) एकांतरयमकस्तोत्र
(३०) महायमकस्तोत्र
(३१) नतोपदेशस्तोत्र
(३२) शरणागतोद्धारणस्तोत्र
(३३) कर्णपूरस्तोत्र
(३४) अगन्यवर्णस्तोत्र
(३५) ईश्वरप्रशंसास्तोत्र
(३६) स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्र
(३७) स्तुतिप्रशंसास्तोत्र
(३८) पुण्यपरिणामस्तोत्र
(३९) कविवंशवर्णन

इन सब स्तोत्रों या खंडों के श्लोकों की संख्या है १,४०९। जिस पुस्तक में ये सब निबद्ध हैं उसका नाम है, स्तुति-कुसुमांजलि। अर्थात् कवि ने प्रत्येक स्तुति या स्तोत्र को एक-एक कुसुम कल्पना करके उनकी अंजलि अपने इष्टदेव, शंकर, पर चढ़ाई या उनको अर्पण की है। इस श्लोकांजलि के कर्ता का नाम है जगद्धर भट्ट। उसकी इस पुस्तक का प्रकाशन हुए कोई २१ वर्ष हुए। बंबई के निर्णयसागर-प्रेस ने, काव्यमाला-नामक पुस्तक-मालिका के अंतर्गत, इस कुसुमांजलि के दर्शन कराये हैं।

जगद्धर भट्ट कास्मीर का रहनेवाला था। उसने स्तुति-कुसुमांजलि

के अंत में अपना जो वंशादि-वर्णन किया है उसमें लिखा है कि उसके पितामह का नाम गौरधर और पिता का रत्नधर था। पितामह समस्त शास्त्र-पारगामी था। पुरारि का परम भक्त था। यजुर्वेद के वेद-विलास-नामक भाष्य का कर्ता था। रत्नधर महाकवि था, विवश होकर सरस्वती को उसके कंठ का आश्रय लेना पड़ा था ; सहृदय सज्जन उसकी सदुक्तियाँ सुन कर आश्चर्यमग्न हो जाते थे। जगद्धर की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। तर्क-शास्त्र में वह इतना व्युत्पन्न था कि उसके सामने प्रतिवादी तार्किकों के मुँह पर मुहर सी लग जाती थी। सरस्वती की उस पर पूर्ण कृपा थी। उसके मतिमंदिर को उसने अपना विहार-स्थल बना लिया था। वह निर्मत्सर था, सहृदय था, मधुर-भाषी था, विनयशील था, शास्त्रसागर का पारगामी था। कवि वह इतना अच्छा था कि सुंदर और सरस उक्तियों ने एक-मात्र उसी की शरण का आश्रय लिया था।

अपने पिता, पितामह और स्वयं अपनी तारीफ़ मे जगद्धर ने यह जो कुछ कहा है उसमें, संभव है, अतिशयोक्ति हो। पर इसमें संदेह नहीं कि जगद्धर महाकवि था और उसके पूर्वज भी पूरे विद्वान् थे। शास्त्रों का अनुशीलन और कविता-प्रेम उसके कुटुंब में उसके पूर्वजों के समय ही से चला आता था।

जगद्धर भट्ट का स्थितिकाल १३५० ईसवी के लगभग माना जाता है। इसका पता इस तरह चला। जगद्धर का रचा हुआ एक और भी ग्रंथ है। वह है बालबोधिनी-नामक कातंत्रवृत्ति। उसकी रचना जगद्धर ने अपने पुत्र, यशोधर, के पढ़ने के लिए की थी। यह बात उसने इसी वृत्ति के आरंभ में लिखी है। इस वृत्ति का एक व्याख्यान भी है। उसका कर्त्ता है राजानक शितिकंठ। वह काश्मीर के अंतर्गत पद्मपुर का रहनेवाला था और जगद्धर के नाती की लड़की की लड़की का लड़का था। यह बात शितिकंठ ने स्वयं ही लिखी है—

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो जगद्धरो यां विततान वृत्तिम्
तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽल्पम् ।

अपने इसी व्याख्यान के आरंभ में शितिकंठ ने लिखा है कि मैंने बहुत देश-भ्रमण किया, खूब शास्त्रालोचना की, गुजरात के अधिपति मुहम्मदशाह तक ने मेरी पूजा की । इस समय—इस व्याख्यान-रचना के समय—हैदरशाह का लड़का हसनशाह काश्मीर-देश का शासन कर रहा है ।

मुहम्मदशाह ने १५११ ईसवी तक और हसनशाह ने १४८४ ईसवी तक राज्य किया । इसके सौ सवा सौ वर्ष पहले ही जगद्धर हुआ होगा । क्योंकि शितिकंठ उसकी छठी पुश्त में था । अतएव १३५० ईसवी के इधर ही उधर जगद्धर का अस्तित्वकाल अनुमान किया जाता है ।

जगद्धर भट्ट की स्तुति-कुसुमांजलि की एक संस्कृत टीका भी है । वह भी मूल के साथ ही प्रकाशित हुई है । उसके कर्ता का नाम है—राजानक रत्नकंठ । वह भी बड़ा पंडित था । उसके बनाये हुए कई ग्रंथ पाये जाते हैं । वह औरंगज़ेब के समय में विद्यमान था और १७३८ विक्रम-संवत् में उसने स्तुति-कुसुमांजलि की टीका बनाई थी । उसने टीका के अंत में लिखा है—

वस्वग्न्यत्यष्टिभिर्वर्षे मिते विक्रम-भूपतेः ।
अवरंगमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम् ॥
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता ।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका ॥

जगद्धर के बनाये केवल दो ही ग्रंथों का पता चला है । एक तो यही स्तुति-कुसुमांजलि, दूसरी पूर्वनिर्दिष्ट कातंत्रवृत्ति । स्तुति-कुसुमांजलि में जगद्धर ने अपने शिव-संबंधी भक्ति-भाव को इतना ऊँचा करके दिखाया है और अपने दास्य-भाव का इतना हृदयहारी वर्णन

किया है कि जान पड़ता है वह शिव का परम भक्त था और समस्त जीवन उन्हीं की स्तुति करके उसने अपनी कवित्व-शक्ति को सार्थक और वाणी को पवित्र किया। और कोई काव्य या ग्रंथ लिखने की ओर शायद उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। कुसुमांजलि के पाँचवें स्तोत्र में उसने सत्कवियों के काव्य की जो प्रशंसा की है उसमें उसने लिखा है कि जो आह्लाद शंकर की स्तुति से प्राप्त होता है वह सुधाकर चंद्रमा के दर्शन, स्वभावशिशिर स्वर्गंगा के प्रवाह में अवगाहन और स्मरज्वरहारी वामाधर के पान से भी नहीं प्राप्त हो सकता। यथा—

सन्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे नास्त्येष राकाकरे
न प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगानिर्झरे।
गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे नोद्दामरामाधरे
यः शम्भोर्मधुरे स्तुतिव्यतिकरे ह्लादः सुधासोदरे॥

जिस कवि की समझ ऐसी है वह सुधा के सहोदर शंभुस्तवन को छोड़ कर और किसी विषय पर क्यों कविता करने लगा। जगद्धर ने तो शिवस्तुति ही से अपनी मनुष्यता, मनीषिता, सत्कविता और ब्राह्मणता को कृतार्थ माना है—

....

इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः स्तुतिप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम्।

बाल्यकाल ही से जगद्धर का हृदय शंकराराधन की ओर झुक गया था। उसने लिखा है—

तेनाद्दतेन शिशुनैव निवेद्यमान-
मानन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन।
एतं मृगाङ्ककलिकाकलितावतंस-
शंसारसायनरसं रसयन्तु सन्तः॥

ऐसे परम शैव और महाकवि की रचित स्तुतियों के पाठ से सहृदयजनों को यदि परमानंद की प्राप्ति हो और कुछ देर के लिए यदि वे अपने आपको भूल जायँ तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

कुछ विद्वानों का विचार है कि महिम्नस्तोत्र से बढ़कर कोई स्तोत्र नहीं। स्तोत्ररत्नाकर आदि में प्रकाशित अन्य भी कितने ही स्तोत्रों के सुंदर भावों और सरस उक्तियों पर कुछ लोग मुग्ध हो जाते हैं। शंकराचार्य की सौंदर्य्य-लहरी और जगन्नाथराय की गंगालहरी की भी प्रशंसा अनेक रसिकों के मुख से सुनी जाती है। परंतु हमारी सम्मति तो यह है कि स्तुति-साहित्य में इस कुसुमांजलि से बढ कर कोई ग्रंथ नहीं। इसमें जगद्धर ने अपनी कवित्व-शक्ति की पराकाष्ठा दिखा दी है। उसकी कविता इतनी सरस है, उसके स्तवनों के अधिकांश भाव इतने कारुणिक हैं, और उसने अपने आत्म-निवेदन को ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदयद्रावक ढंग से किया है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय पसीज उठता है, आँखों से अश्रुधारा बह निकलती है और मन बे-तरह विकल हो जाता है। उसकी नई-नई उक्तियाँ, उसके विचित्र-विचित्र उपालंभ, उसके करुणा-क्रंदन के अनूठे-अनूठे ढंग पढनेवाले के हृदय पर बहुत ही आश्चर्यजनक पभाव उत्पन्न करते हैं। उसकी कविता रसवती होकर भी प्रासादिक है। अपनी कवित्व-शक्ति का सामर्थ्य दिखाने—अपनी प्रबल प्रतिभा के उड्डान के दर्शन कराने—के लिए उसने स्तुति-कुसुमांजलि के ३८ स्तोत्रों में से ९ स्तोत्रों की रचना में चित्रकाव्य का आश्रय लिया है। उसने किसी में शृंखलाबंध, किसी में द्विपादयमक, किसी में पादांतयमक और किसी में महायमक तक का गुंफन किया है। पर प्रायः सब कहीं, उसकी इस तरह की रचना में, यह ख़ूबी है कि वह विशेष क्लिष्ट नहीं होने पाई। श्लोक को ज़रा ध्यान से देखने और उसका पदच्छेद करने से सब पदों का

पृथक्करण हो जाता है और कवि का भाव ध्यान में आते देर नहीं लगती। अक्षरमैत्री और अनुप्रास के साधन में तो जगद्धर से शायद ही और कोई संस्कृत कवि बढ़ गया हो। देखिए—

स यस्य पादद्वयमिद्धशासन
सदा समभ्यर्चति पाकशासनः
प्रभुः प्रसादामलया दृशा स नः
क्रियाद्विपद्भङ्गमनङ्गशासनः ॥ ७ । ९ ॥

कैसी ललित रचना है। कैसा स्वाभाविक अनुप्रास और यमक है। साथ ही प्रसादगुण की भी कितनी पूर्णता इस पद्य में है। इद्धशासनः, पाकशासनः, दृशा स नः और अनङ्गशासनः—ये सभी पद पढ़ते ही ध्यान में आ जाते हैं। सब कहीं "शासनः", की सिद्धि होने पर भी अर्थज्ञान में ज़रा भी बाधा नहीं आती। पद्य का अर्थ है—बहुत बड़े शासन का अधिकार रखनेवाला पाकशासन (इंद्र) जिसके पादद्वय की सदा पूजा करता है वह अनंगशासन (शिव) अपनी प्रसादपूर्ण निर्मल दृष्टि से हमारी विपदाओं का विघात करे! इसी तरह का एक और पद्य लीजिए—

अहो कृतार्थोऽस्मि मनोऽभिरामया
गिरा गुणालङ्कृतयेह रामया।
तनुः स्थिरेयं ध्रियते निरामया
भवे च यद्भक्तिरभङ्गुरा मया ॥ ३८ । ६॥

यों तो जगद्धर भट्ट की स्तुति-कुसुमांजलि के सभी स्तोत्र सरस और मनोहारी हैं। पर उनमें से कृपणाक्रंदन, करुणाक्रंदन और दीनाक्रंदन नाम के नवें, दसवें और ग्यारहवें स्तोत्रों की हम प्रशंसा नहीं कर सकते। उनमें जगद्धर ने कहीं-कहीं अत्यंत आर्त होकर ऐसी-ऐसी करुणोक्तियाँ कही हैं कि उन्हें पढ़ते समय पाषाण-हृदयों को छोड़ कर औरों से बस रोते ही बनता है। कुछ नमूने लीजिए—

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि
दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि ।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात् ॥११।१४॥

आपकी भक्तवत्सलता की मैं कहाँ तक तारीफ करूँ। भक्तों को आप क्षीरसागर तक दे डालते हैं—बालक उपमन्यु को क्षीरसागर दे ही डाला है। इतनी शक्ति रखने पर भी, पूजन के समय, भक्तजनों का वितीर्ण किया हुआ जलकण भी आप ग्रहण कर लेते हैं। आपकी एक आँख रविरूप है, दूसरी सोमरूप है, और तीसरी अग्निरूप है। इस प्रकार सभी तेजोमय पिंडों के प्रभु होने पर भी भक्तजनों का दिया हुआ दीपदान भी आप ख़ुशी से स्वीकार कर लेते हैं। और देखिए, ब्राह्मी वाणियों का उत्पत्ति-स्थान होने पर भी अपने अल्पज्ञ और मुग्ध भक्तों की स्तुति भी आप सुन लेते हैं। आपसे अधिक भक्त-वत्सल और कौन है? देखिए न, अपने विनीत जनों के प्रणयानुरोध से, न मालूम, क्या-क्या करने को आप सदा ही तैयार रहते हैं।

अच्छा तो अब आप ही बताइए कि मेरी स्तुति—मेरी वाणी—का स्वीकार आप क्यों नहीं करते। मैं अब तक कोई ४०० श्लोकों द्वारा आपकी स्तुति कर चुका। पर आप फिर भी मौन ही हैं। यह क्यों?

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति
दत्तं वरं स्मरसि चेद् गिरिराजपुत्र्याः ।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु-
लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च ॥ ११।१७ ॥

आपने पार्वतीजी से यह प्रतिज्ञा की है कि मैं एक-मात्र तुम्हारा प्यार करूँगा, और किसी का नहीं। कहीं आप अपनी इस प्रतिज्ञा—इस वरदान—का स्मरण करके मेरी वाणी के विषय में उदासीन तो नहीं हो रहे? यदि यह बात हो तो, बताइए, आकाश-गंगा और

चंद्रकला से इतना प्रेम क्यों ? उनको आपने सिर पर क्यों बिठाया है ? और अपनी अत्यंत प्यारी दया को हृदय में क्यों स्थान दिया है ? इन तीनों के संबंध मे आपने अपनी प्रतिज्ञा क्यों तोडी है ? फिर मैंने ही ऐसा कौन सा गुरुतर अपराध किया है जो मेरी स्तुति-मय वाणी का आप इतना निरादर कर रहे हैं ?

किं भूयसा यदि न ते हृदयङ्गमेय-
मस्या गृहे वससि किं हृदये मदीये ।
सार्धं प्रियेण वसनं तदुपेक्षणं च
दुःखावहं हि मरणादपि मानिनीनाम् ॥११।२३॥

अच्छा, और सब बाते जाने दीजिए । एक बात तो बताइए । मेरी वाणी के घर से आप परिचित हैं या नहीं ? मेरा हृदय ही उसका घर है और वहीं—उसी के घर में—आप चौबीसों घंटे रहते हैं । (अर्थात् मैंने आपको अपने हृदय मे बिठा रक्खा है) यह क्यों ? आपका यह अन्याय कैसा ? जिससे आपको इतनी नफ़रत उसी के घर में, उसी के साथ, वास ! ज़रा संसार की तरफ़ आँख उठा कर तो देखिए । मानिनी महिलाओं के साथ ही यदि उनका प्रेमी रहे और रह कर भी उनकी उपेक्षा करे, तो उनको मर जाने से भी अधिक दु.ख होता है या नहीं ? फिर क्यों आप मेरी वाणी को इतना दुःसह दुःख देने से विरत नहीं होते ? बहुत अच्छा, आपके जी में आवे सो कीजिए—

मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य ।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम् ॥ ११ । २४ ॥

माँ सरस्वती ! अपने आराध्य देव को उपेक्षा करने दे । तू अपनी कारुणिक विज्ञप्ति उन्हें सुनाना बंद न कर । धीरज न छोड़ । भगवती

भवानी, चंद्रमा की कला और व्योमगंगा वहीं उनके शरीर पर ही विराज रही हैं। वे तीनों स्त्री हैं। और स्त्री स्त्री की ज़रूर ही तरफ़-दार होती है। अतएव कभी न कभी तो वे तेरी सिफ़ारिश शिवजी से ज़रूर ही करेंगी। अब नहीं तो तब उन्हें तेरा आदर करना ही पड़ेगा। एक नहीं तीन-तीन स्त्रियों की सिफारिश कभी न कभी सफल हुए विना न रहेगी।

> एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
> स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम्।
> देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
> धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम् ॥ ११। २९ ॥

हाँ, डर इतना ही है कि यह चंद्रलेखा स्वभाव ही से बड़ी कुटिल है। स्वर्गंगा भी अपचचतुरा और चंचला है। देख न, ऊँची नीची तरंगें उसमें उठा ही करती हैं। अतएव ऐसी नारियों का विश्वास नहीं किया जा सकता। कुटिलों और चंचलों का क्या ठिकाना? संभव है, वे तुझे दाद न दें। अच्छा न दें तो न सही। दयार्द्रहृदया पार्वतीजी तो वैसी नहीं। नगेंद्र-कन्या (पर्वत-पुत्री) होने के कारण उनकी क्षमाशीलता मे संदेह नहीं। महाभागा पार्वती कदापि तेरी अवज्ञा न करेंगी। वे निःसंदेह ही तेरी आर्तिविधुर विज्ञप्ति स्वामी को सुना कर तेरा आश्वासन करावेंगी।

अपनी स्तुतिमयी वाणी का इस प्रकार समाधान करके जगद्धर भट्ट फिर अपने स्वामी शंकर से आत्म-निवेदन आरंभ करता है और कहता है—सरकार आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते?

> पाप. खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
> किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
> यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
> तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥ ११। ३७ ॥

मैं पापी हूँ, मैं दुष्कर्म्मकारी हूँ—क्या यह समझ कर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं? नहीं, नहीं, ऐसा करना तो आपको मुनासिब नहीं। क्योंकि भयरहित, प्राज्ञ और सुकृतकारी को रक्षा से क्या प्रयोजन? रक्षा तो पापियों, भयार्तों और खलों ही की कीजाती है। जो स्वय ही रक्षित है उसकी रक्षा नही की जाती। रक्षा-तो अरक्षितों ही की की जाती है। मुझ महापापी, महाअधम और महाअसाधु की रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी? मै ही तो आपकी दया—आपके द्वारा की गई रक्षा—का सबसे अधिक अधि-कारी हूँ। आपही कहिए, हूँ, या नही। हाँ, आप शायद यह कहे कि—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ न तवास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ॥ ११।३८ ॥

तेरा अधःपात तो तेरे ही दुष्कर्म्मों से हुआ है। अपने किए का फल भोग। रक्षा-रक्षा, क्यों चिल्लाता है? महाराज, आपका यह कहना बजा है। मैं अपने ही पापों से ज़रूर पतित हुआ हूँ। तथापि, ऐसा होने पर भी मैं आपकी अवज्ञा का पात्र नहीं। आपको मेरा उद्धार करना ही चाहिए। आप तो सर्वसमर्थ महादेव है। साधारण दयाशील जन भी तो. पतितों की उपेक्षा नहीं करते। यदि कोई विवेकहीन दृप्त पशु स्वयमेव किसी अंधकूप में गिर जाता है तो कारु-णिक मनुष्य उसे भी उस कुवे से निकाल लेते हैं। अतएव अपने ही कुकर्म्मों से पतित मुझ नरपशु पर भी दया करना आपका कर्तव्य है।

आप अपने इस कर्तव्य-पालन से यदि बचना चाहें तो भी नहीं बच सकते। बचने की चेष्टा करने से आप पर पक्षपात का दोष लगेगा—आप अन्यायी ठहराये जायँगे; क्योंकि आपने मेरे ही सदृश

और भी अनेक जनों का परित्राण किया है। यदि मेरे समान-धर्म्मा अन्य कितने ही जनों को आप अपने अनुग्रह का पात्र बना चुके हैं तो मुझे क्यों नही बनाते? आपने अपने गले में जिस साँप को लिपटा रक्खा है उसकी करतूत पर कभी आपने विचार किया है? जैसा वह है, ठीक वैसाही मैं भी हूँ। देखिए—

निष्कर्ण एष कुसृतिव्यसनी द्विजिह्वो
मत्वेति चेत्त्यजसि निःशरणं प्रभो माम्।
एतादृशोऽपि पवनाशन एष कस्मा-
च्छ्रीकण्ठ कण्ठपुलिने भवता गृहीतः ॥ ११।२१ ॥

मैं निष्कर्ण हूँ—किसी की बात नहीं सुनता; मैं कुसृतिव्यसनी अर्थात् कुमार्गगामी हूँ; मैं द्विजिह्व अर्थात् असत्यवादी हूँ। यह सब ठीक है। तो क्या मेरे इन्हीं दुर्गुणों के कारण आप मुझ निःशरण का परित्याग करने चले हैं? भला आपने अपने इस सर्पराज, वासुकि, के भी गुणों या दुर्गुणों का कभी विचार किया है? वह भी तो ठीक मेरे ही सदृश है—वह भी तो निष्कर्ण (कर्णहीन) है; वह भी तो कुसृतिव्यसनी (कु = पृथ्वी, सृति = मार्ग) अर्थात् पृथ्वी पर पेट के बल चलनेवाला है; वह भी तो द्विजिह्व अर्थात् मुँह में दो जिह्वायें रखनेवाला है। उस पर तो इतनी कृपा और मेरी इतनी उपेक्षा!

जिह्वासहस्रयुगलेन पुरा स्तुतस्त्व-
मेतेन तेन यदि तिष्ठति कण्ठपीठे।
एकैव मे तव नुतौ रसनास्ति तेन
स्थानं महेश भवदङ्घ्रितले ममास्तु ॥ ११।२२॥

हाँ, एक बात ज़रूर है। किसी ज़माने में इस शेषनाग ने अपनी दो हज़ार जिह्वाओं से आपकी स्तुति की थी। अतएव, शायद आप उसकी इस सेवा के कारण ही उस पर इतने प्रसन्न हुए हों और उसे अपने कंठ में स्थान दिया हो। यदि यही बात है तो मुझे आपने दो

हज़ार जिह्वायें क्यों न दीं? मेरे मुख में तो केवल एक ही जिह्वा है। उस एक ही से मैं आबाल्यकाल आपकी बराबर स्तुति कर रहा हूँ। सो, दयासागर, दो हज़ार जिह्वाओं से स्तुति करने पर यदि आप किसी को अपने कंठ में स्थान दे सकते हैं तो एक ही जिह्वा से स्तुति करनेवाले मुझे आप अपने पैर के तलवे के नीचे ही पड़ा रहने दीजिए। मुझे कंठ न चाहिए; आपके तलवे के तले पड़े रहने ही से मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

अच्छा, इस सर्पराज को जाने दीजिए। अपने वाहन बैल ही के गुणों पर विचार कीजिए। वह भी तो मेरे ही सदृश है। जो बातें मुझमें हैं वही उसमें भी। वह भी मेरा ही समानधर्म्मा है। कैसे, सो सुन लीजिए—

> शृङ्गी विवेकरहितः पशुरुन्मदोऽयं
>
> मत्वेति चेत्परिहरस्यतिकातरं माम्।
>
> एवंविधोऽपि वृषभश्चरणार्पणेन
>
> नीतस्त्वया कथमनुग्रहभाजनत्वम्॥ ११। ५३॥

मैं शृंगी अर्थात् बड़ा घमंडी हूँ; मैं निर्विवेक हूँ; मैं पशुप्राय या नरपशु हूँ; मैं उन्मत्त हूँ—तो क्या इसी से आप मुझ महाकातर का परिहार करने चले हैं? क्या आपका बैल ऐसा नहीं? वह भी तो शृंगी है—उसके भी तो सींग हैं; वह भी तो विवेक-विरहित है; वह भी तो पशु है; वह भी तो उन्मत्त है। फिर उसके क्या सुरख़ाब का पर लगा है जो आपने अपने चरणस्पर्श से उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाया है? हम दोनों ही बराबर हैं। पर अपने बैल का तो इतना पक्षपात और मेरी इतनी अवज्ञा! यह अन्याय है या नहीं?

> पृष्ठे भवन्तमयमुद्वहते कदाचि-
>
> देतावता यदि तवैति दयास्पदत्वम्।
>
> स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्वहामि
>
> त्वामित्यतः कथमहो न तवानुकम्प्यः॥ ११। ५४॥

हाँ, इसमें संदेह नहीं कि आपका वाहन यह बैल, कभी-कभी, ज़रूरत पड़ने पर, आपकी सवारी के काम आता है। संभव है, इसी से आप उस पर इतने दयालु हों। और होना भी चाहिए। जो जिसके काम आता है उस पर वह भी कृपा करता ही है। इस Give and Take वाली नीति का मैं भी कायल हूँ। अच्छा तो, सरकार, यह बैल आपको अपनी पीठ पर सदा ही सवार तो कराये रहता ही नहीं। जब कभी ज़रूरत पड़ती है तभी वह अपनी पीठ पर आपको बिठा लेता है। अब आप ज़रा मेरी सेवा का भी तो ख़याल कीजिए। मैंने तो आपको पीठ पर नहीं, हृदय पर बिठा रक्खा है। सो भी कभी-कभी नहीं; दिन रात, चौबीसो घंटे! फिर भी मेरा परित्याग! दुहाई आपकी, आपका यह सरासर अन्याय है। दिन रात आपको अपने हृदय पर बिठा कर भी मैं आपकी कृपा का पात्र क्यों नहीं?

महाराज, अब और विलंब न कीजिए। हम लोग जितने मनुष्य हैं सभी काल के पाश में फँसनेवाले है। इस विषय में हम अत्यंत ही विवश हैं। जिस तरह धीवर मछलियों को किसी दिन अचानक अपने जाल में फाँस लेता है उसी तरह मृत्यु भी हमें फाँस लेती है। उस समय किसी की भी शरण जाने से हमारा परित्राण नही। मन्नू का विवाह हम अभी तक नहीं कर सके, हमारा नया महल अभी तक बन कर तैयार नही हुआ, हाई-कोर्ट की जजी मिलने का हुक्म हो जाने पर भी अभी तक हम उस आसन पर नही बैठ सके—इस तरह की दलीलों और अपीलों का असर मौत पर नहीं होता। वह एकाएक आकर हमें ले गये विना माननेवाली नहीं। जब तक वह नहीं आई तभी तक अपने परित्राण की फ़िक्र मनुष्य को कर लेनी चाहिए—

तावत्प्रसीद कुरु नः करुणामसन्द-
माक्रन्दमिन्दुधर मर्षय मा विहासीः।

ब्रूहि त्वमेव भगवन्करुणार्णवेन
त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजाम॰ ॥ ६ । ५४ ॥

अतएव, मौत आने के पहले ही आप मुझ पर कृपा कर दीजिए। मेरे इस रोने-चिल्लाने पर कुछ तो ध्यान दीजिए। मेरी प्रार्थना सुन लीजिए। भगवन्, मुझे बचा लीजिए। आप ही कहिए, अदि आपके सदृश करुणासागर ने भी मेरी रक्षा न की तो मैं फिर और किसकी शरण जाऊँगा? क्या आपसे बढकर भी कोई ऐसा है जो मुझ सदृश पापी को पार लगा सके?

आप शायद कहें कि तू मौत से क्यों इतना डरता है। मौत तो सभी को आती है। डरने से वह दूर नही हो सकती। इसके जवाब में मेरा यह निवेदन है कि जो पैदा होता है वह मरता ज़रूर है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ। मगर, सरकार, कुछ लोग मौत से बच भी तो गये हैं। राजा श्वेतकेतु और आपके गण-श्रेष्ठ नंदी को ही मैं उदाहरण के तौर पर पेश करता हूँ। आपकी कृपा से इन लोगों की मृत्यु टल गई है या नही? हाँ, यह सच है कि बहुत बड़ी तपस्या के प्रभाव से इन्होंने मृत्यु को जीता है। मुझमे उतना तपोबल नही। कहाँ उनका घोर तप और कहाँ मेरा न कुछ। अच्छा तो यदि मेरी मौत नही टल सकती तो मेरे लिए कुछ तो रियायत कर दीजिए। और कुछ न सही तो आप इतना ही कर दीजिए—

त्वर्चनान्तसमये तव पादपीठ.
मालिङ्ग्य निर्भरमभङ्गुरभक्तिभाजः ।
निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य
प्राणा. प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात् ॥ ६ । ५६ ॥

मैं आपकी रोज़ पूजा करता हूँ। पूजा हो चुकने पर आपके सिंहासन के नीचे स्थित, आपके पैर रखने की चौकी पर, अपना सिर रख कर मैं बडे ही भक्तिभाव से उसका आलिंगन करता हूँ। बस आप

इतना कर दीजिए कि उसी दशा में मुझे नींद आ जाय और उस नींद ही के बहाने मेरे प्राणों का उत्क्रमण हो जाय।

पाठक, मालूम नहीं, आपके हृदय पर जगद्धर की इन कारुणिक उक्तियों का क्या असर होगा, और कुछ होगा भी या नहीं। हमारी आँखों से तो आँसुओं की झड़ी लग रही है। काग़ज़ भीग रहा है। अब और नहीं लिखा जाता। हृदय हलका होने पर, कुछ और थोड़ा सा लिख कर, हम इस आलोचना को समाप्त करेंगे।

जगद्धर अपने दुखदर्द की कहानी सुनाते-सुनाते थक गया। पर शिवजी ने उसकी ख़बर तक न ली। तब वह व्याकुल हो उठा और लगा शिवजी को उलटी-सीधी सुनाने। अत्यंत परुष वाक्य कहने में भी उसे संकोच न हुआ। तरह-तरह से उसने शिवजी को उलाहना दिया। उनकी भर्त्सना तक उसने की। उन्हें अज्ञ, अबल, आकुल, अक्षम, निर्दय—और न मालूम और क्या क्या—कह डाला। वह रोता भी गया और शिवजी को धिक्कारता और उन्हें खरी-खोटी सुनाता भी गया। इस प्रकार विलाप करते-करते वह कहता है—

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश।
मा नामभूत् करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते॥११।१०२॥

आह! यह आपकर क्या रहे हैं! मुझे तो यमराज खींचे लिये जा रहा है और आप तमाशा देख रहे हैं! ऐसे समय भी आपको दिल्लगी सूझी है। मैं तो मर रहा हूँ और आप मज़ाक कर रहे हैं! क्या आपको यही मुनासिब है? मैं सुनता आ रहा हूँ कि आपका कुछ संबंध करुणा से भी है। तो क्या आपका यह निर्दय व्यवहार देख कर वह करुणा भी आपके हृदय में पीड़ा नहीं पैदा करती? अच्छा, यदि वह नहीं पीड़ा पहुँचाती—यदि उससे आपका कुछ भी संबंध

नहीं—तो क्या अपनी शरण आये हुए मुझ अभागी को काल-पाश मे फँसा देख आपको लज्जा भी नहीं आती ?

इत्यादि दूढ्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी
यत्किञ्चनग्रहगृहीत इवास्तशङ्कः ।
आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
तत्रापि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम् ॥११ । १०९॥

मेरा तो बुरा हाल है । आर्त्तियों से मै अत्यंत आकुल हूँ । होश तक मेरे ठिकाने नहीं । मेरी तो अक्ल ही मारी गई है । इसी से मैं पिशाच-ग्रस्त पुरुष के सदृश, जो कुछ मुँह से निकलता है, निः-शंक कहता चला जा रहा हूँ । मुझमें उचित अनुचित का ज्ञान नही । इस दशा में यदि मैं कठोर से भी कठोर बाते कहूँ तो क्या आ-श्चर्य्य ? अरे निर्दयी ! अरे निष्ठुर ! अरे निष्कृप ! आश्चर्य्य तो इस बात पर होता है कि मेरे इन दुर्वचनों को सुन कर भी तू अपने मुँह पर लगी हुई मौन की मुहर नही तोड़ता ! मेरी यह करुण-कथा सुन कर कुछ भी तो बोल !

मैं ही भूलता हूँ । आपसे मेरी कुछ भी भलाई होने की नहीं— आपसे मुझे कुछ भी आशा नहीं—

सर्वज्ञशम्भुशिवशङ्करविश्वनाथ-
मृत्युञ्जयेश्वरमृडप्रभृतीनि देव ।
नामानि तेऽन्यविषये फलवन्ति किन्तु
त्वं स्थाणुरेव भगवन्मयि मन्दभाग्ये ॥११ । ८३॥

सर्वज्ञ, शिव, शंकर, मृत्युंजय, मृड आदि आपके आठ दस नाम बडे ही सुंदर हैं । वे सभी शुभसूचक हैं । किसी का अर्थ है कल्याण-कर्त्ता, किसी का सुखदाता, किसी का विश्वनाथ, किसी का सर्वज्ञ और किसी का मृत्युविजयी । पर ये सब नाम हैं किसके लिए ? औरों के लिए; मेरे लिए नहीं । जो सौभाग्यशाली हैं उन्ही को आप,

अपने इन नामों के अनुसार, फल देते हैं—किसी को सुख देते हैं, किसी का कल्याण करते है, किसी की मृत्यु टाल देते हैं। रहा मैं, सो मुझ अभागी के विषय में आपका एक और ही नाम सार्थक है। वह नाम है, स्थाणु (ठूँठ) ! पत्र, पुष्प, फल और शाखाओं तक से रहित सूखे वृक्ष से भी भला कभी किसी को कुछ मिला है ? उससे तो छाया तक को आशा नहीं। अतएव, आप जब मेरे लिए एक-मात्र स्थाणु हो रहे हैं तब मैं आपसे क्या आशा रक्खूँ ? यह सब मेरे ही दुर्भाग्य का विजृंभण है।

महाराज, बहुत हो चुका। अब तो मुझ पर कुछ कृपा की जाय। मुझे इससे अधिक अच्छी प्रार्थना करना नहीं आता—

अज्ञस्तावदहं न मन्दधिषणः कर्तुं मनोहारिणी-
श्चाटूक्तीः प्रभवामि यामि भवतो याभिः कृपापात्रताम्।
आर्त्तेनाशरणेन किन्तु कृपणेनाक्रन्दितं कर्णयोः
कृत्वा सत्वरमेहि देहि चरणं मूर्धन्यधन्यस्य मे ॥१ । ८२ ॥

यदि मैं मीठी-मीठी बातें बना सकता, यदि मै आपकी मनोहारिणी स्तुति करने की योग्यता रखता, यदि मुझे खुशामद करना आता तो, संभव है, आप प्रसन्न होकर मुझ पर कृपा करते। पर मैं करूँ तो क्या करूँ। मुझमें वैसी शक्ति ही नहीं। मैं तो ठहरा मंदबुद्धि, अज्ञ, महामूर्ख। अतएव आप मुझसे वैसी हृदयहारिणी उक्तियां की आशा न रखिए। आप तो केवल मेरी दीनता को देखिए—मैं आर्त्त हूं, निःशरण हूँ, दुखी हूं, आपकी दया का भिखारी हूँ। मेरा यह विलापात्मक रोना-धोना सुन कर दौड़िए—देर न कीजिए—और मुझ पापी के मस्तक को अपने पैरों का स्पर्श करा जाइए।

जगद्धर भट्ट की तरह भगवान् भव से हम भी कुछ-कुछ ऐसी ही प्रार्थना करके स्तुति-कुसुमांजलि की करुण-कथा से विरत होते हैं।

अगस्त १९२२

वेद क्या भगवद्वाणी है ?

हिंदुओं का विश्वास है कि वेद अपौरुषेय है; वह किसी पुरुष का बनाया नहीं। पर यहाँ पुरुष से मतलब पुराणपुरुष से नही; मतलब मनुष्य से है। बड़े-बड़े विद्वान् और बड़े-बड़े शास्त्री यही कहते चले आ रहे हैं कि भगवान् की वाणी ही का नाम वेद है। अर्थात् वह भगवान् के मुख से निकला है; वह उसी के मुख से निकला हुआ अथवा प्रत्यादेशमूलक वाक्य-समाहार है। इसी से वेदों में हिंदुओं की निःसीम श्रद्धा है। वे उन्हें स्वतःप्रमाण मानते हैं। किसी विषय को निर्भ्रांत या नितांत सत्य सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं—"अत्र वेदाः प्रमाणम्"। इसी से लोक में भी वेद-वाक्य की दुहाई देने की चाल पड़ गई है। अमुक व्यक्ति की बात वेद-वाक्य नहीं; अमुक निश्चय या अमुक लेखक की सम्मति को वेद-वाक्य न मान लेना चाहिए—इत्यादि कथन प्रायः प्रतिदिन ही सुनने में आते हैं। बात यह कि वेद मे जो लिखा है वह सब सही है। उसमें मीन-मेख करने—उसमें किंतु-परंतु लगाने—के लिए जगह नहीं। वेद-वाक्यों की सत्यता में संदिहान जन नास्तिक समझे जाते हैं।

यह सब कुछ है, तथापि पुराने ज़माने मे भी कितने ही पंडित ऐसे हो गये हैं जो वेद को ईश्वरनिर्मित न मानते थे। इस विषय में संदिहान तो कितने ही शास्त्रज्ञ और शास्त्रकार किंवा आचार्य्य तक थे। कुसुमांजलिकार ने लिखा है—

> वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवद्वेदः पौरुषेयः
> वाक्यत्वात् भारतवद्वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि असमदा-
> दिवाक्यवत्।

अर्थात् वेद मनुष्यकृत हैं; अतएव पौरुषेय हैं। आयुर्वेद, महाभारत तथा हम लोगों के मुँह से निःसृत वाक्य-समूह जैसे पौरुषेय हैं वैसे ही वेद भी पौरुषेय ही हैं।

परंतु वेद के विषय में हम हिंदुओं की श्रद्धा कुछ इतनी अधिक बढ़ गई है—वह अपनी सीमा से भी इतनी अधिक दूर चली गई है—कि वेदों को भगवान् की वाणी कहते-कहते हमने उन्हें ख़ुद भगवान् ही बना डाला है। हम बहुधा अख़बारों में पढ़ते हैं—अमुक शहर में "वेदभगवान्" की सवारी निकली। अमुक तारीख़ को "वेदभगवान्" का षोडशोपचारपूजन हुआ।

इस बदले हुए ज़माने में भी अभी तक पांडेय रामावतार शर्म्मा के सदृश कुछ ही स्वतंत्र-स्वभाव के पंडित देख पड़ते हैं। स्वतंत्र-स्वभाव से हमारा मतलब ऐसे स्वभाववाले सज्जनों से है जो मन की बात, समाज की समझ के प्रतिकूल होने पर भी, निःशंक कह डालने का साहस कर सकें। बहुत समय बाद आज हमें पांडेयजी के सदृश एक और भी साहसी पंडित का पता चला है। आपका नाम है—श्रीउमेशचंद्र विद्यारत्न। आपका लिखा हुआ, वैदिक रहस्य नामक एक लेख, बँगला-भाषा के मासिक पत्र "भारतवर्ष" की गत आषाढ़ मास की संख्या में निकला है। उसमें आपने तर्क-द्वारा यह दिखाने की चेष्टा की है कि वेद भगवद्वाणी नहीं। वह और लेखों, शास्त्रों और ग्रंथों की तरह मनुष्य-वाणी है। आपकी इस निर्भीकता की हम प्रशंसा करते हैं। कितने ही पंडित वेदों को अपौरुषेय नहीं समझते। पर खुल कर वैसा कहने का साहस नहीं कर सकते। ऐसा आचरण विद्वानों को शोभा नहीं देता। मुँह में एक, पेट में एक, यह सिद्धांत पंडितों का न होना चाहिए। अप्रिय सत्य का भी अपलाप करना पंडितों का काम नहीं।

विद्यारत्नजी की राय है कि उपनिषदों, पुराणों, शास्त्रों और इति-

हासों आदि में जो यह लिखा है कि वेद भगवान् के निःश्वास-रूप है—

अरे वेदा अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितानि

वह केवल आदर सूचक है। वेद मे इन ग्रंथों के कर्ताओं की अपार भक्ति थी। इसी से उन्होंने ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है। इसका यह मतलब नही कि वेदों की रचना ईश्वर ने की है। असल मतलब केवल श्रद्धा-प्रकाशन है। आचार्यों ने भी साफ-साफ यह नही लिखा कि वेद अपौरुषेय हैं। कुल्लूक-भट्ट आदि टीकाकारों ने ऐसा ज़रूर लिखा है, पर वे लोग वेद में अकृतश्रम थे। वेद के वे पारगामी पंडित न थे। इसीसे उन्होंने, परपरागत जनश्रुति के आधार पर, वेद को अपौरुषेय कह दिया है। परंतु यह मत स्वयं वेद ही के विरुद्ध है; अतएव सर्वथा अग्राह्य है।

अब हम वेदरत्नजी के लेख का संक्षिप्त सारांश लिखते है। यह हम इसलिए नहीं करते कि लोग वेदरत्नजी की तरह वेद को मनुष्य-निर्मित मानने लगें। उद्देश केवल यह है कि वे अपने विरोधी की बात सुन तो लें; उसकी तर्कना-प्रणाली और प्रमाण-कोटि की जाँच तो कर लें, वे यह तो देख लें कि उसकी बातों मे कुछ सार भी है या वे साद्यंत ही वाग्जाल या तर्काभास-मात्र हैं। अच्छा, तो, अब वेद-रत्नजी की तर्कदक्षता के नमूने देखिए—

हिंदू कहते हैं, "वेदो हरेर्वाक्" (कल्किपुराण) अर्थात् वेद ईश्वर की वाणी है। किरिस्तान कहते है—Bible is the word of God (बाइबेल ईश्वर की वाणी है)—मुसल्मान कहते ह—कुरान कलाम-उल अल्लाह (कुरान अल्लाह का कलाम है) ये तीनों ही धर्म्मग्रंथ जगन्मान्य है और अपने-अपने धर्म्म के अनुयायियों के लिए परम पूज्य हैं। अतएव प्रत्येक निष्ठावान् हिंदू के लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि यथार्थ मे उनके वेद हैं क्या चीज़। वेद बहुत ही

प्राचीन ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से वे बड़े महत्त्व के हैं, हम लोगों के आदर की चीज़ हैं, और हमारे पूर्वजों की स्मृति के दिव्य चिन्ह हैं। इसमें संदेह नहीं। परंतु, यह सब होने पर भी, क्या वे ईश्वर-प्रणीत भी हैं?

इस ब्रह्मांड का भी स्रष्टा और नियंता कोई ज़रूर है। उसे आप चाहे ईश्वर कहें, चाहे परमेश्वर कहें, चाहे महेश्वर कहें, चाहे और कुछ। इस विश्व का नियंत्रण करना उसके बायें हाथ का खेल है। उसके लिए सूर्य्य का निर्म्माण एक छोटी सी घडी के निर्म्माण के सदृश सरल काम है। मगर उसका यह छोटा सा काम भी, देखिए, कितनी महत्ता रखता है। क्षुद्र सूर्य की सृष्टि करके ही वह ब्रह्मांड का अंधकार नाश करता है, आलोक और उत्ताप देता है, और प्राणिमात्र को जीवित रखता है। अनंत-शक्तिसंपन्न ऐसे ईश्वर ने चार वेद, दो बाइबेल और एक कुरान लिखने या बनानें का आडंबर क्यों किया? व्यर्थ ही अपना काम क्यों बढ़ाया? सबके लिए एक सूर्य की तरह एकही धर्म्म-ग्रंथ क्यों न बना दिया? हिंदू, मुसल्मान, किरिस्तान, गोंड, भील, मुंडा, गारो, कूकी आदि लोगों के लिए उसने अलग-अलग सूर्य्य तो बनाये नहीं। धर्म्म-ग्रंथ ही क्यों अलग-अलग?

शायद आपका यह ख़याल हो कि अपनी उठती हुई जवानी में ईश्वर ने पहले एक वेद बनाया। जब लोगों ने उसमे भूलें दिखाईं तब लज्जित होकर उसे दूसरा वेद बनाना पडा। इसी तरह पहले की भूलें सुधारने के लिए वह तीसरा और चौथा भी वेद बनाने के लिए मजबूर हुआ। जब उनको भी उसने निर्भ्रांत न समझा—जब सभी में उसे भूलें दिखाई दीं—तब उसे दो बाइबेल और अंत में एक क़ुरान और बनाना पडा।

भाइयो, स्वामी दयानंद सरस्वती अपने शिष्यों से कह गये हैं और लिख भी गये हैं कि हिंदुओं के वेद ही प्रकृत ईश्वर-वाणी है, कुरान और बाइबेल दोनों ही झूठे हैं। यदि यही बात है तो ईश्वर ने

किरिस्तानों और मुसल्मानों को निजकृत धर्म्मग्रंथ न देकर उन्हे उससे वंचित क्यों रक्खा? उसके लिए जैसे हिंदू, वैसे ही किरिस्तान और वैसे ही मुसल्मान। हिंदुओं के विषय में उसका पक्षपात कैसा? हिंदुओं ने क्या ईश्वर को घूस दी थी या उसे मालपुवे और मोहनभोग खिलाया था जो वेद उन्हीं को देकर औरों के साथ उसे अन्याय करना पडा? मुसलमानों और किरिस्तानों का शुभागमन यदि इस देश में न होता तो उन बेचारों को शायद ईश्वरीय वेद-वाणी का नाम भी सुनने को न मिलता। यदि बाइबेल ही यथार्थ ईश्वर-वाणी है तो न्यायशील भगवान् ने उसके आस्वादन से हिंदुओं और मुसलमानों को क्यों वंचित रक्खा? यदि किरिस्तानों के जन-समुदाय, दया के वशवर्ती होकर, ईजिप्ट, अरब, इराक़ और मरुमय महानरकतुल्य भारतवर्ष को अपनी पवित्र पद-धूलि का दान न करते तो क्या कभी हम लोग बाइबेल के ईश्वरीय ज्ञान की गंध तक पा सकते? यदि क़ुरान ही प्रकृत ईश्वर-वाणी है तो हम लोगों और किरिस्तानों ने ईश्वर का क्या बिगाडा था जो उसने हमारे लिए भी कुरान सुलभ न कर दिया। ईश्वर अनत-शक्ति-संपन्न है। यदि वह अपनी वाणीमयी ग्रंथावली को सूर्य्य की कमर में मज़बूती से बाँध कर लटका देता तो जैसे-जैसे सूर्य्य चक्कर लगाता वैसे ही वैसे सब देशों के लोग ख़ुदाई-लिपि में लिखी हुई ख़ुदा की वाणी वेद, बाइबेल या क़ुरान का पाठ करके अपना-अपना धर्म-कर्म ठीक कर लेते। फिर, इस संसार में, हिंदू, मुसल्मान और किरिस्तान नामधारी पृथक्-पृथक् संप्रदायो की सृष्टि ही न होती। यदि ऐसा होता तो बड़े ही आनंद की बात होती। हिंदुओं के मंदिर तोड कर मुसल्मान मसजिदे न बनाते; किरिस्तान भी मसजिद और मंदिर देख कर नासिकाकुंचन न करते। हिंदुओं का परमेश्वर संस्कृतज्ञ, बाइबेल का गॉड (परमे-

श्वर) हिब्रू और ग्रीक भाषाओं का वेत्ता और मुसल्मानों का ख़ुदा अरबी भाषा का पारगामी पंडित था। भाइयो, आपकी भावना कहीं इस तरह की तो नहीं।

परमेश्वर ने क्या अपने सरकारी छापेख़ाने में वेद, बाइबेल और क़ुरान की कापियाँ छपा कर, सर्वत्र वितरण करने के लिए, अपने हरकारे के हाथ उन्हें ब्रह्माजी के पास भेजा था? अथवा क्या भारतवर्ष और फिलिस्तीन (Palestine) में हिंदू-ऋषियों और किरिस्तान-पादरियों के मन में, समय-समय पर, प्रत्यादेश करके पृथ्वी पर वेद और बाइबेल की आमदनी की थी?

थियासफिस्ट-संप्रदाय के एक वक्ता बार-बार यह कह चुके हैं कि—"भगवान् के पास से समय-समय पर समागत ज्ञान-स्रोत ही वेद है"। यदि यही सच है तो क्या कारण है जो न्यायी भगवान् ने किरिस्तानों और मुसल्मानों को उस ज्ञान-स्रोत के आगमन की ख़बर तक न पहुँचने दी? यदि हिंदू इतने ख़ुदापरस्त और परमेश्वर के प्रेमपात्र हैं तो क्यों वही हिंदू औरों के पदानत, पददलित और पदाहत हुए हैं?

भाइयो, देखिए। प्रसूति के पहले ही, परमेश्वर की प्रेरणा से, जैसे देवदत्त की माँ मनोरमा देवी और पंचम जार्ज की माँ मातृदेवी के स्तनों में दुग्ध-संचार होता है वैसे ही गोंडों, भीलों, कूकियों, रेड इंडियनों और काफ़िरों की नारियों के भी स्तनों में दुग्ध-संचार होता है। तो इतने पक्षपातशून्य और इतने न्यायनिष्ट भगवान् ने क्यों इन सब अनार्य जातियों को न तो वेद ही दिया, न बाइबेल ही दिया, न क़ुरान ही दिया और न वह ख़ुदाई ज्ञान-स्रोत ही दिया? भाई, बात यह है कि क्या वेद, क्या बाइबेल, क्या कुरान इनमें से कोई भी ग्रंथ ईश्वरीय वस्तु नहीं—कोई भी ग्रंथ ईश्वर-निर्मित नहीं। मनुष्यों ही ने अपने-अपने बुद्धि-बल से अपने-अपने धर्म ग्रंथों की रचना की है। उनका सम्मान बढ़ाने के लिए

ही उन्होंने यह बात प्रचलित कर दी है कि वेद अपौरुषेय है, कुरान ख़ुदा का कलाम है, बाइबेल ईश्वर की वाणी है। यदि ज्ञान-स्रोत भगवान् के मुख या पाद-द्वय से बहता तो क्या संसार में फिर भी कोई पापी रह जाता ? बात यह है कि ज्ञान मनुष्य की स्वोपार्जित वस्तु है; वेद, बाइबेल और कुरान भी स्वोपार्जित है।

योरप के विज्ञानवेत्ता साहब भी, नवाविष्कृत रेडियम धातु के गुण देखकर, अब यह कहने लगे हैं कि पृथ्वी की सृष्टि हुए कोई दस करोड़ व र्ष हुए होंगे। हम हिंदुओं का अनुमान है कि हमारी पृथ्वी कम से कम पच्चीस करोड वर्ष की पुरानी है। जब पृथ्वी इतनी पुरानी है तब मनुष्य-सृष्टि हुए पाँच छः करोड वर्ष से कम न हुए होंगे। अब वेदों की उम्र का अंदाज़ा लगाइए। हम लोग कहते हैं कि हमारे वेद लाख दो लाख वर्ष के पुराने हैं। साहब लोग कहते हैं कि वे ईसा के पूर्व हज़ार ही डेढ़ हज़ार वर्ष पहले निर्मित हुए होंगे। उनका मतलब शायद यह है कि वेद उनके पुराने बाइबेल (मूसा के बाइबेल) के बाद के हैं। अर्थात् बाइबेल का प्राचीन भाग (Old Testament) वेदों के पहले का है। इस हिसाब से बाइबेल की उम्र ३६०० वर्षों की, वेदों की ३४०० वर्षों की और कुरान की १३५० वर्षों की हुई। अच्छा तो यदि बात ऐसी ही है तो इन ख़ुदाई धर्म्मग्रंथों के हज़ारों वर्ष पहले उत्पन्न हुई मानव-मडली, इन ग्रंथो के अभाव में, जो नरहत्या, व्यभिचार, पशु-हरण, आदि पाप करके नरक गई होगी उसका ज़िम्मेदार कौन ? जो भगवान् शिशु-जन्म होने के पहले ही, मातृ-स्तनों में दूध उत्पन्न कर देता है उसी दूरदर्शी भगवान् ने मनुष्य-सृष्टि के साथ ही साथ अपने बनाये वेद, बाइबेल और कुरान क्यों न भेज दिये ? भाइयो. ये सब ढकोसले-मात्र हैं। इन पर विश्वास न कीजिए। वेद, बाइबेल, क़ुरान में से कोई भी भगवान् की रचना नहीं। वे सभी मनुष्य-प्रणीत हैं। जिन नरों और नारियों ने उनकी रचना

की है उनके नाम ख़ुद वेदों ही में विद्यमान हैं। इस अमोघ प्रमाणावली के रहते आप क्यों पुरानी कपोल-कल्पना पर विश्वास करते हैं ? बाइबेल में नाना भूलें और भ्रांतियाँ तथा अनेकानेक हिंसा-द्वेष की बातें (यथा आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत तोड़ने की आज्ञा) देख कर भी किरिस्तान जैसे उसे भगवद्वाणी कहते हैं वैसे ही जिन हिंदुओं ने वेद को कभी आँख से भी नहीं देखा और जो इतना भी नही जानते कि वेद चिपटे हैं या गोल वे भी वेद को ईश्वरप्रोक्त कहने में लोलजिह्व देखे जाते हैं। यह सब अंध-भक्ति की महिमा है।

अच्छा, वेद की श्रुति संज्ञा क्यों है ? लिपि की सृष्टि मनुष्य-सृष्टि के साथ ही नहीं हुई; बहुत पीछे हुई है। मानव-मंडली उत्पन्न होने पर धीरे-धीरे जब भाषा की सृष्टि हुई और विशेष-विशेष आर्य्यों के मन में कवित्व का उन्मेष हुआ तब उन्होंने श्लोक-रचना या कविता-प्रणयन का प्रारंभ किया। वेद-मंत्र उनकी उसी कविता का संग्रह है। उस समय लिखने की कला किसी को ज्ञात थी ही नहीं; अतएव वेद-मंत्र सुन-सुन कर कंठ किये जाते थे। इसी से वेद का नाम हुआ श्रुति—श्रूयते इति श्रुतिः—जो सुना जाय वही श्रुति है। "श्लोक-रचना" पद मे 'श्लोक' शब्द देख कर अधीर न हो उठिएगा। यह शब्द बहुत पुराना है; वाल्मीकि के समय का नहीं। रामायण के हज़ारों वर्ष पहले भी श्लोक शब्द पद्य के अर्थ मे व्यवहृत होता था। स्वयं वेद मे ही लिखा है—

मिमीह श्लोकमास्ये—१४। ३८। १

अर्थात् तुम लोग मुँह से श्लोक-रचना करो। इससे यह भी प्रमाणित हो गया कि उस ज़माने मे लिख-लिख कर वेद-मंत्रों की रचना न होती थी। ऋषि मुँह से ही श्लोक बनाते और कंठ करते जाते थे और मुँह से ही कह कर दूसरों को कंठ कराते थे। वायु-पुराण मे लिखा है—

वेदाः सप्तर्षिभि प्रोक्ताः स्मार्तं धर्मं मनुर्जगौ

अर्थात् (सुरज्येष्ठ ब्रह्मा के पितामह, मरीचि आदि) सात ऋषियों ने सर्व-प्रथम वेदमंत्र कहे और मनु ने सर्व-प्रथम स्मार्त धर्म का बीजारोपण किया।

चिरकाल तक श्रुति-संज्ञा का भोग करने के अनंतर ब्रह्मा की आज्ञा से जब बिखरे हुए वेदमंत्रों का संग्रह किया गया और वे सब लिख लिये गये तब उस पुरानी संज्ञा के बदले उन्हें वेद-संज्ञा प्राप्त हुई। श्रुति और वेद का यह अंतर ध्यान मे रखने लायक़ है।

अच्छा तो जिन वेदों को हम मनुष्यकृत बताते हैं उनमें लिखा क्या है—उनमें वर्णन या निरूपण किन बातों या विषयों का है। उनमें सामान्यतः चार प्रकार के विषयों का विवेचन है—

(१) पुरातन इतिहास

(२) पुरातन भूगोल

(३) पुरातन साहित्य

(४) पुरातन धर्म

आर्यों की वह अवस्था आदिम थी जिसमे उन्होंने वेद-रचना की है। उसी के अनुकूल उन्होने कविता भी की है। विषय-संबध में वह एक प्रकार की खिचडी है। कहीं धर्म-कर्म की बात है, कहीं इतिहास की, कहीं कला-कौशल की, कहीं लड़ाई-झगड़े की, कहीं पशुपालन की और कहीं खेती की। कुछ के उदाहरण लीजिए—

ऋग्वेद के पहले मंडल मे "नास्मै विद्युत् न तन्यतुः" इत्यादि मंत्रों में इंद्र के साथ वृत्रासुर के युद्ध का वर्णन है। लिखा है कि क्रूर-स्वभाव वृत्र ने जितने वैद्युतिक अस्त्र इंद्र पर चलाये और जितने शस्त्रों का प्रयोग उसने इंद्र पर किया वे सब व्यर्थ हो गये। जीत इंद्र

ही की हुई। इस प्रकार के जितने वर्णन हैं वे सब पुराने इतिहास के सूचक हैं।

भौगोलिक वर्णन भी वेद में बहुत हैं। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, संध्योपासन ही के कई मंत्रों में भूगोल-विषयक बातें हैं। देखिए—

(१) ऋतञ्च सत्यञ्च अभीद्धात् तपसो अध्यजायत

× × ×

(२) सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वं अकल्पयत्

× × ×

स्वर्गलोक, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा, दिन, रात इत्यादि की उत्पत्ति और भुवन-निर्म्माण का वर्णन सिवा भूगोल-विवरण के और कुछ नहीं। ऐसे वर्णनों में यदि कहीं और कुछ है भी तो वह और कुछ गौण है, प्रधान वर्णन भूगोल-विषयक ही है। इस तरह के एक नहीं, अनेक मंत्र वेद में हैं—

असौ आदित्यः अस्मिन् लोके आसीत्।
तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकं अनयन्।

कला-कौशल विषयक वर्णन देखिए। एक मंत्र है—

वस्त्राः पुत्राय मातरो वयन्ति

अर्थात् अपने-अपने पुत्रों के लिए मातायें कपड़े बुनती हैं—

कारुरहं ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसुयवः।

उद्योग-धंधे और शिल्प-समुदाय से सबंध रखनेवाले ऐसे-ऐसे अनेक मंत्र वेद में विद्यमान हैं। मैं कारीगर हूँ, मेरा अमुक कुटुंबी वैद्य है, मेरी अमुक कुटुंबिनी अमुक पेशा करती है, इस तरह के जितने वर्णन वेद में है उनसे सूचित होता है कि मंत्र-प्रणेता आर्य्य उस ज़माने में क्या-क्या काम करते और किस-किस तरह जीविकोपार्जन करते थे।

अब धार्मिक वर्णन का एक आध उदाहरण लीजिए। उस समय अग्नि, जल, अंतरिक्ष और वरुण आदि ही आर्यों के देवता थे। एक मंत्रकार ऋषि जल से प्रार्थना करता है—

इदमापः प्रवहत यत्किञ्चिद्दुरितं मयि।
यद्वाहं अभिदुद्रोह यद्वा शेपे उतानृतम्।

हे जल, जो पाप मैने किये हों उन्हे धो डालो। औरों से मैंने जो द्रोह किया हो, औरों को शाप दिया हो, अथवा मिथ्याचरण किया हो वह सब बहा ले जाव। यही हैं वेद के धार्म्मिक वर्णन।

इस दशा में और प्रकार के वर्णनों पर धूल डाल कर, वेदों के जो तरफ़दार उनमें केवल आध्यात्मिक बातें पढ़ने और नाना प्रकार की कोटि-कल्पनाओं से उन्हें सिद्ध भी करने की चेष्टा करते हैं वे वंध्या गाय के थन के पास बैठ कर घडा भर दूध दुह लेने की चेष्टा करते है। वेदों में धर्म्म की बातों के सिवा घर-द्वार, खेत-खलिहान, उद्योग-धंधा, पशुपालन आदि के भी वर्णन है। यही क्यों, उनमें हिंसा, द्वेष, मार-काट, भ्रांति और प्रमाद भी हैं। भ्रांत मनुष्य के सिवा, क्या अभ्रांत ईश्वर भी ऐसी बातें कह सकता है? ऋग्वेद मे लिखा है—

इंद्र ब्रह्मद्विषो जहि

हे इंद्र, ब्रह्मविद्वषी (असुर) को मार डालिए। यजुर्वेद मे है—
यो अस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः

जो हमसे द्वेष रखता है, हम भी उससे द्वेष रक्खेगे। अथर्ववेद मे लिखा है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
सं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो सो अवीयहा।

यदि तुम हमारी गाय, घोडे या आदमी को मारोगे तो हम तुम्हें

सीसे (की गोली) से मार देंगे, जिससे तुम फिर कभी हमारे पशुओं और कुटुंबियों की हिंसा न कर सको।

हे कान, आँख और हृदय रखनेवाले भाइयो, क्या इन सब वेद-वाक्यों को अब भी तुम भगवान् की वाणी मानने को तैयार हो? विश्वास कीजिए, ये समस्त मंत्र मनुष्यों ही की रचना हैं। जिस समय इनकी रचना हुई थी उस समय हमारे पूर्वजों का मन उतना उदार न था। इसी से इन प्राकृत वेद-मंत्रों में हिंसा, द्वेष और शत्रु-भाव की बातें पाई जाती हैं।

वेद में तो विपर्ययगत प्रमाद भी हैं। ऋग्वेद में एक जगह है—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः

अर्थात्—दिवलोक में पहले पहल अग्नि उत्पन्न हुआ या प्रज्वलित हुआ। पर वहीं एक और जगह है—

इलायाः पुत्रो अजनिष्ट

अर्थात् इला या इलावृत-वर्ष का पुत्र अग्नि है। पहले मंत्र में यह कहा गया है कि अग्नि दिवलोक में उत्पन्न हुआ। दूसरे मे कहा गया कि वह इलावृत-वर्ष में उत्पन्न हुआ। अतएव पहला कथन भ्रम या प्रमाद नहीं तो क्या है? क्योंकि ऋग्वेद ही में लिखा है कि अथर्वा ऋषि ने पुष्करद्वीप या इलावृत-वर्ष में अरणी-संघर्षण-द्वारा पहले पहल अग्नि का उत्पादन किया।

ऋग्वेद के अष्टम मंडल मे एक मंत्र है—

तं उष्टवाम य इमा जजान
विश्वा जातानि अवराणि अस्मात्

इस पर सायण-भाष्य है—

तमु तमेव इंद्रं वयं संहत्य स्तवाम स्तोत्रं करवाम।
य इन्द्रः इमा इमानि भूवानि जजान जनयामास।

अर्थात् जिस इंद्र ने इन समस्त भूतों की—इस सारे विश्व की—

रचना की है हम उसी की स्तुति करते हैं । फिर, एक जगह, उसी मंडल में, एक और मंत्र है—

प्रसू स्तोमं भरत वाजयन्तः
इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उत्व आह
कईं ददर्श कमभिष्टवाम ।

भावार्थ—तुम लोग किसका गुणगान कर रहे हो ? यदि इंद्र नामधारी कोई देवता सचमुच ही विद्यमान है तो उसकी स्तुति कर सकते हो । पर मैं नेमि नाम का ऋषि यह कहता हूँ कि इंद्र नामधारी कोई नहीं । इंद्र को किसने देखा है ?

देखिए, पहले मन्त्र में तो यह कहा गया कि इंद्र ही परमेश्वर है और उसी ने विश्व की सृष्टि की है । दूसरे मंत्र मे नेमि नाम के ऋषि का कथन है कि इंद्र कोई चीज़ हो नहीं । उसका अस्तित्व तक वह नहीं मानता । इस दशा मे, आपही कहिए, दो मे से एक मन्त्र के रचयिता का भ्रम या प्रमाद प्रत्यक्ष प्रकट है या नहीं ? असल बात तो यह है कि भ्रम दोनों ऋषियों का है । पहला ऋषि तो अदितिनंदन इंद्र ही को सृष्टि-कर्ता मानता है, और दूसरा कहता है कि इंद्र क्या पदार्थ ? इंद्र इंद्र क्यों कहते हो ? इंद्र कोई चीज़ नहीं । यदि वेद ईश्वर-प्रोक्त होते तो क्या ईश्वर कभी तो यह कहता कि इंद्र है और कभी यह कहता कि इंद्र है ही नहीं ? अतएव, भाइयो, परंपरागत अपनी इस भ्रांति को अब तो दूर कर दो कि वेद अपौरुषेय है, वेद भगवान् का निःश्वास है, वेद ईश्वरप्रणीत है, अथवा ईश्वर ही ने प्रत्यादेश द्वारा ऋषियों के मुँह से वेद का प्रकटीकरण किया है । इसे ध्रुव सत्य समझो कि वेद मनुष्य-प्रणीत है । उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही ईश्वर पर उसकी रचना का आरोप किया गया है । बस, बात इतनी ही है; और कुछ नहीं । रहे ब्राह्मण, आरण्यक और

उपनिषद्। सो ये सब वेद के व्याख्याग्रंथ हैं। उपनिषदों में अध्यात्म-विषय है; ब्राह्मणों में यज्ञयाग आदि की व्याख्या है; और आरण्यकों में अरण्यवासी आर्य्यों के पूजा-पाठ और धर्म्म-कर्म्म आदि का विवेचन है।

सितंबर १९२२

उपन्यास-रहस्य

आजकल हिंदी-साहित्य मे उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में से प्रायः ९९ फ़ी सदी पुस्तकें उपन्यास कदापि नहीं ; और चाहे जो कुछ हो । उपन्यासों और क़िस्से-कहानी की पुस्तकों की चाह होने के कारण अधिकारी और अनधिकारी सभी लेखक "अव्यापारेषु व्यापारः" करने में व्यस्त हैं। जो यह भी नहीं जानता कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख-लिख कर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फ़िक्र में है। इस तरह की चेष्टायें कभी-कभी अत्यंत उपहास्य मार्गों का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिए दवाओं, पुस्तकों तथा अन्य चीज़ों के दुकानदार कोई अंड-बंड कहानी गढ लेते हैं। फिर बीच-बीच अपनी चीज़ों का विज्ञापन देकर उस पुस्तक का कोई भड़कीला औपन्यासिक नाम रखते हैं। तब उसे प्रकाशित करते और बेचते है। अभी एकही हफ़्ता हुआ होगा, हमने एक ऐसा उपन्यास देखा जो किसी स्कूल या कॉलेज के किसी छात्र की रचना है। रचयिता ने भूमिका मे यह बात बड़े गर्व से लिखी है कि मैंने दो ढाई सौ सफ़े का यह उपन्यास दसही पंद्रह रोज़ में लिख डाला है। पुस्तकें लिखने का उत्साह बुरी बात नहीं ; पर अनधिकार चेष्टा की कुछ सीमा भी तो होनी चाहिए। यह न होना चाहिए कि बिच्छू का तो मंत्र न जाने और साँप के बिल में हाथ डाले। कुरुचिवर्धक पुस्तकें लिखने से लेखक को अर्थ-लाभ हो

सकता है, पर उससे समाज को हानि पहुँचती है। अतएव इस तरह के लेखक समाज की दृष्टि में दंडनीय हैं।

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्त्व का है। यह संस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रंथ-साहित्य में भी पाया जाता है। पर अंकुर-रूप ही में इसके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे-अच्छे ग्रंथ ज़रूर लिखे हैं; परंतु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है। संभव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्म्मतत्त्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथासरित्सागर, कादंबरी, वासव-दत्ता और दशकुमार-चरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ, किसी हद तक इनसे मनोरंजन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है—उन्हीं ने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने इस अंग के कलानिरूपण-संबंध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं; उनमें क्या गुण होने चाहिए; उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि।

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पंडितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उप-न्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह

जानते हैं कि समाज का रुख़ किस तरफ़ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पंडितों के तत्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अंग में बंग-भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य्य हुए हैं। विद्यमान लेखको में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर, इस समय, सबसे आगे हैं। उनके गोरा नामक उपन्यास में, सुनते हैं, अच्छे उपन्यास के अनेक गुण पाये जाते है। तथापि बँगला-भाषा के उपन्यास-लेखकों में भी अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं; अधिकता बुरे उपन्यास लिखनेवालो ही की है। इन पिछले लेखकों की विपाक्त रचना से सामाजिक बंधनों की ग्रंथि शिथिल हो जाने का डर है। खेद है, हिंदी में इस तरह के चरित्र-नाशक उपन्यासों ही के अनुवाद अधिकता से हो रहे है। बँगला के अच्छे उपन्यासों के अनुवादों के दर्शन बहुत ही कम होते है। इस दृश्य मे संतोष की बात इतनी ही है कि समझदार लेखक और प्रकाशक अच्छे और बुरे उपन्यासों का अंतर अब कुछ-कुछ समझने लगे हैं।

उस दिन इलाहाबाद के "लीडर" नामक अँगरेज़ी भाषा के दैनिक पत्र का एक अंक हमने खोला तो उसका एक सफ़े का सफ़ा एक समालोचना से भरा दिखाई दिया। उस पर नज़र डाली तो प्राचीन समय के कुछ नाम देख पडे। आरंभ का कुछ अंश पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह तो हिंदी के दो उपन्यासों की आलोचना है। तब हमने उसे साद्यंत पढ़ा। समालोचना थी करुणा और शशांक नामक दोनों उपन्यासों की। जिन मौर्य्य नरेशों को हुए हज़ारों वर्ष हो चुके उनके समय के सामाजिक और राजनैतिक दृश्य इन उपन्यासों में दिखाये गये हैं। यह बात हमने इस समालोचना ही से जानी; क्योंकि इन पुस्तकों को हमने स्वयं नहीं देखा। मूल रचना एक

बंगाली पुरातत्त्वज्ञ की है। अतएव उपन्यासों के गुण-दोषों के उत्तर-दाता वही हैं। समालोचना मे पुस्तकों की खूब स्तुति-प्रशंसा थी। यदि इन पुस्तकों में उस ज़माने की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रवाज, राजनैतिक चालों आदि ही के दृश्य हों तो भी पुस्तकें अच्छी ही कही जायँगी। और यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनमे कुछ शिक्षा भी मिलती हो तो फिर कहना ही क्या है। हाँ, यदि उनमें उस ज़माने के सामाजिक दोषों के भी उल्लेख हों—और वे दोष समाज के लिये हानिकारी हों—तो बात ज़रा विचारणीय हो जायगी; क्योंकि कुछ पंडितों की सम्मति में ऐसे दृश्य दिखाना वांछनीय नहीं। हाँ, जो लोग समाज का सच्चा ही चित्र, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, दिखाना उपन्यासकार का कर्तव्य समझते हैं वे अवश्य इस संबंध में मीनमेख न करेंगे। अस्तु, यह तो अवांतर बात हुई। "लीडर" में प्रकाशित समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। वह यह कि अब अँगरेज़ी भाषा के सैकड़ों उपन्यास चाट जानेवाले लोग भी हिंदी में लिखे गये उपन्यास पढने लगे हैं और अख़बारों के लंबे-लंबे चार-चार पाँच-पाँच कालमों में उनकी आलोचना भी करने लगे हैं। अच्छे समझ कर ही अँगरेज़ी-दाँ समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों की समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के इशारे या प्रेरणा से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ वे अनुवादमात्र हैं। हिंदी के सौभाग्य से इन प्रांतों मे एक ऐसे भी उपन्यास-लेखक प्रकाश मे आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते है, उन्हीं की उपज हैं। "सुनते हैं", इसलिए, क्योंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की

धूम, कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आये। उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही में निकला है। उसका नाम सेवाश्रम, या कुछ इसी तरह का है। इन उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की है तहाँ एक आध ने पिछले उपन्यास में बहुत से दोष भी ढूँढ़ निकाले हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी है। दोषोद्भावना करने में दोषदर्शक ने उपन्यास-लेखक के क़ानूनी अज्ञान, मनःशास्त्रविषयक अज्ञान, सामाजिक नियम-सबंधी अज्ञान आदि दिखाने का प्रयत्न किया है। यह अज्ञान-परपरा उपन्यास-लेखक के किसी पक्षपाती को मान्य नहीं हुई; और, संभव है, ख़ुद लेखक को भी मान्य न हो। इसी से कृताक्षेपों का खंडनात्मक उत्तर भी कहीं हमने पढा है। स्मरण तो यही कहता है।

अच्छा तो उपन्यासों के गुण-दोषों की परख क्या है? इसके उत्तर में हम अपनी तरफ़ से अधिक नहीं लिख सकते और लिखना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं। अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से संबंध रखनेवाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यो ही के कार्यो तथा उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना ज़रूरी है। विना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ

ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्य-कारण-संबंध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास-लेखक के लिए मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य होना चाहिए। उपन्यास लिखनेवाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजना न होनी चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का साराश यह है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के नियम जहाँ-जहाँ ले जायँ उपन्यासकार को वहाँ-वहाँ जाना चाहिए और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिए। अनिष्ट-प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के क़ायल लेखक इसी का अनुगमन करके घटना-निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदांती या विरागी को अनिष्ट-लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो वे उसे अपवाद या नियम-विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो ज़रूर मानना चाहिए, पर सदा ही उनसे अपनी विचार-परंपरा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के संबंध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखंड सत्ता

नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नही उत्पन्न होता। अतएव जैसी घटनायें लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य-समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देखने में प्रायः आया करते हैं तदनुकूल ही उपन्यास-रचना होनी चाहिए। मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्णन करना चाहिए; इस बात की परवा न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नही हो सकती; अतएव इसका वर्णन त्याज्य है। घटनावली के निदर्शन और भावों के चित्रण की जड में मनोविज्ञान रहे ज़रूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीर-संगठन में सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए। जो इस ख़ूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रख कर चरित्र-चित्रण करते हैं उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़तापूर्वक करके कोई किसी अन्य पुरुष या स्त्री के भावो का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नही सकता। बात यह है कि सबके मन एक से नहीं होते। सबकी ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक सी नही होती। किसी अवस्था-विशेष में पडने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है, श्याम उस प्रकार का नही करता, यह बात हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढना भ्रम के गर्त मे गिरने और घटना-वैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा-जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उसके कार्य कारण हुआ करते हैं। वे किसी नियमावली के पाबंद नहीं। आपके पास यदि

कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे ५) दान ले जाय तो, बताइए, आप धोखा खा जायँगे या नहीं। सो, संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य्य सदा होते भी तो नहीं।

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुंद, इंदु और मल्लिका, मदयंतिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों ही को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं वे उनके निज के मन के प्रतिबिंब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास-लेखकों ही के मन के प्रतिबिंब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व से लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या है कि अपने ही मन की माप से औरों के मन की माप-तोल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अंतर्भुक्त है; अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रांति है।

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रांत नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दंड समझ कर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रांति-रहित नहीं हो सकता। इस "उभयतो पाशारज्जुः" की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बंद ही कर देना चाहिए? नहीं, बंद कदापि न कर देना चाहिए। उपन्यास तो साहित्य की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है।

घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार ज़रूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवी मन की

स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना, आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। कोई ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना का निर्म्माण न करना चाहिए जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे; वह पशु, देव या दानव आदि हो जाय। बस। फिर, दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अमुक अवसर आने पर मै यह कहता, मैं यह करता, मैं मार बैठता, मै उत्तेजित हो जाता—इस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके सत्य का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावो का विकास करना है उसके सस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था की—सारांश यह कि उसकी संपूर्ण परिस्थितियों की—आलोचना करना चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति मे ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होगे। तब तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनिया में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नही। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से, दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिह्नों से जाना जा सकता है, यह बात मानसशास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय आदि भावों या विकारों का मानसिक उदय होने पर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिह्न प्रकट हो जाते हैं जिनसे उन-उन विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ-साथ इन चिह्नों के उदयास्त का भी खूब विचार करके लेखनी-सचालन करना

चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परंतु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आंतरिक भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखनेवाले की इंद्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लक्षणों और इंद्रिय-प्रवंचना से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, क़ानून का, धर्म का, देश-काल और पात्र का भी ख़याल रखना चाहिए। उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है। ऊपर, एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई क़ानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्षसमर्थक ने युक्ति-प्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है तब तक वह भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिए आजकल के क़ानून में जो सज़ा निर्दिष्ट है उसके सिवा और कोई सज़ा—चाहे वह उससे थोड़ी हो या बहुत—दिलानेवाला उपन्यासकार स्वयंही प्रतिकूल आलोचनारूप सज़ा का पात्र समझा जायगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सबका काम नहीं। उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक, सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कौड़ियों ज़ैद और कोडियो बक्र धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं

कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयमशीलता और स्वाभाविता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर भी सदुपदेश देने का सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश अच्छा होने पर भी, बीच-बीच, घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण से संबंध रखनेवाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के संबंध में, हिंदी में तो, अभी कूड़े-कचरे ही का ज़माना है। और, आरंभ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अँगरेज़ी भाषा मे तो अब तक चरित्र-नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। वह समय गया जब उपन्यास दो घंटे दिल बहलाव-मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे बैठे हुए हैं, लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता; लाओ "चपला" या "चंचला" ही को देख जायँ। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते है। मिहनत-मज़दूरी करनेवालों को भी वे घंटे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में

उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की ज़रूरत हो। फिर उसमे चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या ज़रूरत ? प्रसंग आही जाय तो इस तरह के चित्रों की विवृति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़नेवालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी विवृति करनी चाहिए। जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखा कर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेंट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को और मज़दूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़े हिला दे। वह चाहे तो देश मे अद्भुत जाग्रति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है, सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिवर्धक कृतियों से सामाजिक बंधनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृंखल कर देता है।

दमयंती का चंद्रोपालंभ

महाकवियों की वाणी में अलौकिक रस होता है। इतर जन जिस बात को जिस तरह कहते हैं वे उस बात को उस तरह नहीं कहते। उस तरह कहें तो फिर वे कवि ही नहीं। उनके कहने का ढँग निराला ही होता है। वे अपनी उक्तियों में वह वस्तु—वह चमत्कार—प्रविष्ट कर देते हैं जो कवित्व कहलाता है। उनकी उक्तियों का वही प्रधान गुण है। उसके कारण एक ऐसी बात पैदा हो जाती है जिसके श्रवण से श्रोता को एक विशेष प्रकार के रस का अनुभव होता है और उसके हृदय में अलौकिक आनंद की लहरें उद्वेलित हो उठती हैं। महाकवियों की रसवती रचना का वर्ण्य विषय और कहने का ढँग यदि स्वाभाविक है और सत्यांश से गिरा हुआ नहीं तो फिर क्या कहना है। तो फिर सोने में सुगंध का प्रादुर्भाव हुआ समझिए। यदि बात बहुत ही बढ़ा कर कही गई अथवा यदि वह स्वाभाविकता से बहुत ही गिर गई तो, रसवती होने पर भी, उससे उतना आनंद नहीं मिलता। क्योंकि उसके पाठ या आवृत्ति के समय मन यह कहने लगता है कि, अरे, यह तो सरासर झूठ है! यह तो तिल का ताड़ बनाया गया है! कालिदास की कविता में इस तरह के भावोदय के लिए शायद ही कहीं जगह हो। पर श्रीहर्ष के नैषधचरित में बहुत जगह है। श्रीहर्ष में अद्भुत कवित्व-शक्ति थी। उनकी अधिकांश कविता सरस भी है। परंतु उनकी अनेक उक्तियों में इतनी अतिशयोक्ति है कि उनके पाठ से हृदय चमत्कृत तो होता है, पर साथ ही यह बात भी मन में आये बिना नहीं रहती कि यह तो बात का बतंगड़ है। कविता के मर्म्मज्ञ इसे दोष भले ही समझें, पर हम

जैसे साधारण जन तो यही कहेंगे कि श्रीहर्ष की ऐसी उक्तियाँ भी प्रशंसनीय ही हैं, क्योंकि उनसे इस महाकवि की अलौकिक उपज का पता लगता है। एक मामूली सी बात के वर्णन मे उसके उर्वरा मस्तिष्क से अनोखी-अनोखी उक्तियाँ निकल पडती हैं, जिन्हें सुन कर कभी तो आश्चर्य होता है, कभी आनंद की प्राप्ति होती है, कभी हँसी आती है, कभी कुछ होता है, कभी कुछ। उस समय मन में यही भाव उदित होता है कि महाकवियों को छोड कर औरों को ऐसी-ऐसी बातें कदापि नहीं सूझ सकती।

चंद्रमा अमृतमय है—उसमें अमृत है—और वह अपनी किरणों से अमृत बरसाता है। यह पुराणों में लिखी बात है। यह कहाँ तक ठीक है, इस पर बहस नहीं। वह शीतल तो अवश्य है और उसकी चाँदनी ख़ास-ख़ास महीनों में सुखद भी अवश्य ही होती है। जाडों में उससे अवश्य कुछ कष्ट हो सकता है, पर तभी जब किसी को खुली जगह लेटना, बैठना या सोना पडे। पर कवियों की दुनिया ही निराली है। जैसे पुराणों की कुछ बाते पुराणों ही में, इस समय, पाई जाती हैं वैसे ही कवियो की भी कुछ बातें उन्ही की दुनिया—उन्हीं की कविता-सृष्टि—में पाई जाती हैं। यदि ऐसा न होता तो चकोर पक्षी को हम लोग चिनगारियाँ चुनते पाते और शहरों ही में नही, छोटे-छोटे गाँवों मे भी, चंद्रमा की मारी दो एक वियोगिनी नारियों को रोज़ चिता पर चढ़ाना पडता। कवियों की ये बातें कवि-समय-सिद्ध कही जाती हैं। अर्थात् यह न पूछिए कि इस तरह की घटनायें कभी होती भी हैं या नही; सिर्फ़ यह समझे रहिए कि कवियों में ऐसी बाते कहने या मानने की परिपाटी चली आ रही है।

भले-चंगे वियोगियों और वियोगिनियों को चंद्रमा दुःखदायी हो सकता है; पर वह मारक भी हो सकता है, इसकी गवाही श्रीहर्ष

देते हैं। आपका कहना है कि आज तक उसने एक नहीं, दो नहीं, दस-बीस नहीं, हज़ारों निरपराध नारियों की हत्या कर डाली है। आपके इस तरह के वचन-विलास का थोड़ा सा नमूना हम, इस लेख में, देना चाहते हैं। इस नमूने में पाठकों को श्रीहर्ष की अनोखी उपज के दृश्य भी देखने को मिलेंगे।

राजा नल की अद्भुत रूपराशि, गुणावलि, बल, प्रभुत्व, दान-शीलत्व आदि सुन कर विदर्भ-देश के राजा भीम की कन्या दमयंती उस पर आसक्त हो गई। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं किसी के साथ विवाह करूँगी तो नल ही के साथ करूँगी। उधर एक हंस से दमयंती के रूपलावण्य की प्रशंसा सुन कर नल भी उस पर मोहित हो गया। हंस ने दूतत्व किया और दमयंती के पास जाकर उसके नल-विषयक अनुराग को और भी बढ़ा दिया। उसने दमयंती से यह भी वादा किया कि उपाय भर मैं तुम दोनों का विवाह करा दूँगा।

हंस के चले जाने पर दमयंती दिन-रात नल का चिंतन करने लगी। वह बहुत कृश हो गई; खाना-पीना बहुत कुछ छूट गया; दुनिया की और सभी बातों से उसकी विरक्ति हो गई। वियोगविषयक कवि-समय-सिद्ध आपदाओं ने एकमात्र उसी का सहारा ले लिया। संसार में योग हो जाने पर, वियोग की घटना होती है। पर श्रीहर्ष की सृष्टि में नल से योग होने के पहले ही दमयंती पर वियोग-विपत्ति के बादल फट पड़े। उसे उन्माद सा हो गया। वह विलाप करने और आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने लगी। एक रात को जो उसे षोडश कलाओं से पूर्ण, शिशिरवर्षी, शीतकर दिखाई दिये तो उसका दुःख दूना हो गया। उसने चंद्रमा की बड़ी निंदा की। पर राहु के लिए कहा—"बड़ा बहादुर है; बड़ा परदुःख-कातर है; पापी चंद्रमा को खा जाता है। परोपकारव्रती हो तो राहु जैसा हो; वियोगविधुराओं

को बचाने की बेचारा बड़ी चेष्टा करता है।" इस प्रकार कहते-सुनते जब उसका स्मर-ताप-नामक मर्ज़ बहुत बढ़ गया तब वह अपनी रोती हुई सखी से बोली—

सुन, मैं तुझसे गणित-शास्त्र की बात कहती हूँ। उसके आचार्यों ने यह तो लिख दिया कि देवताओं का युग ब्रह्मा के इतने दिनों के बराबर होता है और मनुष्यों का इतने के। पर ये कम-अक्ल आचार्य यह लिखना भूल ही गये कि सु-योगियों का एक दिन वि-योगियों के कितने युगों के बराबर होता है। इन्हें यह भी तो लिख देना था कि जो विरही नहीं हैं उनका एक क्षण विरहिजनों के एक युग के बराबर होता है। मगर इन बूढ़ों में इतनी बुद्धि कहाँ! इसी से इनकी यह युगादि-गणना अधूरी ही रह गई।

सती अपने पिता दक्षप्रजापति के यज्ञ के अग्नि-कुंड में गिरकर जल मरी और फिर उन्होंने हिमालय के घर जन्म लिया। भोले-भाले लोग समझते हैं कि हिमालय की महिमा ही के ख़याल से सती हिमालय की सुता बनीं। पर यह बात सरासर गलत है। हिमालय पर देवताओं का वास है; वह अनेक रत्न-खनियों का स्वामी है; उस पर सैकड़ों दिव्य ओषधियाँ उगती हैं, यह जान कर सती उसके घर नहीं पैदा हुईं। असल बात यह है कि स्मराग्नि की अत्युग्र ज्वाला से संतप्त होने के कारण, विवश होकर, उन्हें हिमवान् के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने सोचा कि मेरे शरीर का यह दाह हिम अर्थात् बर्फ़ के आकर हिमालय ही के आश्रय से शांत हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इसी से उन्हें बर्फ़िस्तान ढूँढ़ना पड़ा। इसमें संदेह नहीं। एक बात मैं तुझसे और भी कहना चाहती हूँ। महादेवजी के मस्तक पर जो आग जल रही है वह, जानती है, क्या चीज़ है। वह उनका तीसरा नेत्र नहीं। वह तो सती ही के विरह की आग की धधकती हुई लपट है। समझी!

समय कुछ ऐसा आ गया है कि लोगों की अक़्ल ही ठिकाने नहीं। वे समझते हैं कि लौकिक आग से जल जाने पर ही सबसे अधिक जलन होती है। लोगों की इस तरह की समझ पर तर्स आता है; क्योंकि उनकी इस समझ में कुछ भी सार नहीं। सबसे अधिक जलन विरहाग्नि से जलने पर ही उत्पन्न होती है। इसे ध्रुव सत्य समझ। यदि ऐसा न होता तो विधवा स्त्रियाँ, अपने पति के शव के साथ, अगले जन्म में उससे मिलने के लिए, ख़ुशी-ख़ुशी जीती ही क्यों जल मरतीं? चिता की लौकिक आग को तो वे कुछ समझती ही नहीं। उसके सहारे—उसमें कूद कर—वे अपनी विरहाग्नि की व्यथा से बचना चाहती हैं, क्योंकि वह व्यथा साधारण आग में जल जाने की व्यथा से बहुत ही अधिक असह्य होती है।

भले आदमी पापिष्टों को शरण नहीं देते; उन्हें अपने घर में नहीं रखते। वे पुण्यात्माओं ही के पक्षपाती होते हैं और उन्हीं को अपने आश्रय में रखते हैं। पर इस दुर्विनीत चंद्रमा की चाल बिलकुल ही उलटी है। सखी, जरा इसकी दुष्टता को तो देख। यह कुमुदों का सखा है; इसकी अनेक किरणें कुमुदों को छूकर विमल, विशुद्ध, शीतल अतएव तापहारक हो जाती हैं। पर उन्हीं को यह निकाल बाहर करता है। और रखता किनको है? विरहिणी वधुओं के वधजनित पाप-पंक से कलंकित किरणों को! उन्हीं दुःसह पापिनी किरणों से यह मेरा स्पर्श करके मुझे पीडित करता है। भला इसके इस दुर्विनय—इस दौरात्म्य—का भी कुछ ठिकाना है!

सखी, ज़रा इस दुरात्मा चंद्र से यह तो पूछ कि तूने अबलाओं को जला कर ख़ाक करने का गुरुमंत्र किस गुरु से सीखा है। जिस समय तू महासागर के भीतर डूबा पडा था उस समय क्या वहीं जलते हुए वडवानल से सीखा था? अथवा समुद्र से निकलने के बाद, महादेवजी के मस्तक पर पहुँचने पर, क्या उनके गले में

स्थित कालकूट से सीखा है ? इन्हीं दोनों में से किसी एक से उसे दूसरों को जलाने की शिक्षा ज़रूर मिली होगी। मेरा अनुमान तो यही कहता है।

अच्छा, सखी, यह तो बता कि अँधेरी रात में जो अधिक तारे देख पड़ते है सो क्यों ? और ये तारे हैं क्या चीज़ ? तू शायद इस भेद को न जानती हो। इसलिए मैं ही बताती हूँ। यह चद्रमा बडा पापी है। इसने हज़ारों निरपराध नारियों की हत्या की है। और हत्यारे को सज़ा ज़रूर ही मिलती है। इस कारण धर्म्मराज इसकी टॉग पकड कर पहले तो इसे खूब चक्कर देता है, फिर कृष्णपक्ष की रात्रिरूपिणी शिला पर आकाश से पटक देता है और कहता है, ले अपने किये का फल भोग। इस तरह पछाडे जाने पर इसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—नष्ट होकर यह चूर-चूर हो जाता है। ये तारे इसी चांडाल चंद्रमा के शरीर के टूटे हुए टुकड़े या कण हैं। अन्यथा अँधेरी रात मे ये तारा-नामक अनंत चमकीले पिड और कहाँ से आ सकते है ?

सखी, तू जरा देर के लिए मेरी वकालत कर दे। इस दुर्विनीत शशलांछन से यह कह कि जन्म तो तेरा परम कुलीन रत्नाकर में हुआ है और निवास-स्थान तुझे मिला है देवाधिदेव महादेव के मस्तक पर। ऐसा होने पर भी तू क्यों इतना जघन्य कर्म्म कर रहा है ? क्यों तू निर्बल नारियों की हत्या कर करके पाप के घड़े भर रहा है ? यदि तुझे महत्ताशाली महासागर से उत्पन्न होने का कुछ भी ख़याल नही तो क्या तू इस बात को भी भूल गया कि तू रहता कितने उच्च और कितने पवित्र स्थान पर है ? बड़े कुल मे जन्म लेकर और परमपवित्र स्थान में रह कर भी तूने कुटिलता न छोड़ी ! तुझ निर्लज्ज को शतवार धिक्कार !

रे कलकी चंद्र ! तू तो चिरकाल तक उस समुद्र के भीतर था

जिसे मंदराचल ने मथा था। अच्छा तो तू उस पर्वत की कठोर ठोकरों से वहीं क्यों न चूर्ण हो गया? और बच ही गया था तो तुझ सहित समुद्र को पी जानेवाले अगस्त्य मुनि की जठराग्नि से, उनके पेट के भीतर ही, तू क्यों न जीर्ण हो गया? बात यह है कि अधर्मियों और पापियों की बडी उम्र होती है। वे सहज में नहीं मरते।

रे जड! तूने शायद यह सुन रक्खा होगा कि मरने पर प्राणियों का मन तुझमें ही लीन हो जाता है। ("मनश्चन्द्रे निलीयते") श्रुति के इस विधान ही को ध्यान में रखकर क्या तु मुझे मार डालना और मेरे मन को ले लेना चाहता है? यदि तेरा यही मतलब हो तो मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आती है। क्योंकि मेरे मृत मन के संबंध में महापंडित मन्मथ ने उस श्रुति की व्याख्या और ही तरह कर रक्खी है। उसने अपने भाष्य में लिख दिया है कि मरने पर दमयंती का मन राजा नल के मुखचंद्र में विलीन हो जायगा। वही उसका चंद्र है। सो लीन होना तो दूर रहा, मेरा मन तुझ पापी के पास तक फटकनेवाला भी नहीं। मेरे मन के विषय में श्रुति का यह अर्थ अपवादात्मक है। समझा! तू जिस प्रकार के यश का उपार्जन कर रहा है, कर। उसकी घोषणा भी तू नक्कारे की चोट संसार में कर। जिस जलनिधि-वंश में तेरा जन्म हुआ है उसे खूब उज्ज्वल कर। वधू-वध-संबधी पाप भी यथेच्छ बटोर। पर एक बात मत कर। मुझे मार भले ही डाल; कदर्थना मेरी न कर—व्यर्थ ही मुझे पीडा न पहुँचा। रात को सूर्य्य के न रहते तू कपट-सूर्य्य बनता है। अच्छा, बन। मुझे पीडित कर ले—मुझे जी भरकर जला ले। क्या रात ही बनी रहेगी? प्रातःकाल होगा ही नहीं? अवश्य होगा। तब मैं, इन्हीं आँखों से, प्रकृत सूर्य्य के द्वारा तेरी भानुता का झूठा घमंड चूर होते देखूँगी।

हरिणलांछन, लोग कहते हैं कि तू अमृत (अमृतमय) है और भूतपति (शंकर) के आश्रय में रहता है—उनका शिरोमणि है। इस दशा में रात के समय तुझे प्रज्वलित देख देखनेवालों के सिर विस्मय से जो हिल उठें तो ठीक ही है। क्योंकि जो अमृतमय है वही यदि अग्निमय हो जाय तो विस्मय होना ही चाहिए। मेरे लिए तो तू सचमुच ही बड़ा भयकर है। यदि अमृत ही (बेमरा हुआ अर्थात् जीवित ही) प्राणी, भूतपति (पिशाचो के स्वामी) का आश्रय लेकर अपनी भूतता प्रकट करे—दूसरो के शरीर में प्रविष्ट होकर उनका सिर हिलावे—तो उसका यह कर्म अवश्य ही अद्भुत समझा जायगा। इसी से मैं तेरी यह विस्मयजनक चेष्टा देखकर डर रही हूँ।

अरी सखी ! कानों मे खुसे हुए इन तमाल-दलों को तू चंद्रमा के हिरन को क्यो नहीं खिला देती ? खिला, खिला। इन्हे उसके आगे डाल दे। ये नये-नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरन यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चद्रमा के कुछ अश को ढक ले तो ज़रा देर के लिए मुझे दम लेने को तो फ़ुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित होती है। अभी-अभी, उस दिन, अमावास्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड रखती। अच्छा, अब के आने दे। अब मैं उसे न छोड़ूँगी; पकड रक्खूँगी। ऐसा करने से इस चद्रमा का पुनरागमन रुक जायगा। मैं इस पापी का मुँह नहीं देखना चाहती।

भला यह मेरा चकोर-पक्षी यदि अगस्त्यजी का शिष्य हो जाय और समुद्र पान करना सीख आवे तो कैसा। यदि इसे वह विद्या आ जाय और यह समुद्रपायी हो जाय तो चंद्रमा को पी जाना इसके लिए कौन बडी बात होगी। अभी तो यह उसकी तरफ़ टकटकी

लगाकर केवल देखा करता है। फिर तो, उसकी किरणों को पी जाना, इसके लिए पानी के दो चार छींटे मुख में रख लेने के सदृश सहज काम होगा।

ओ सखी! मेरी आली! लोहे का एक बड़ा सा हथौड़ा तो ले आ! लाई? अच्छा, अब मेरा आईना आँगन में रख दे। फिर देखती रह। ज्योंही मेरे इस शत्रु शशांक का प्रतिबिंब आईने में देख पड़े त्योंही उस पर हथौड़े की एक चोट ऐसी मार कि उसका काम वहीं तमाम हो जाय। मेरे दिन इतने खोटे हैं कि संसार में मेरी सहायता करनेवाला कोई भी नहीं। समुद्र ही को देख। वडवानल जैसी भीषण आग को तो वह पेट में डाले बैठा है। पर चंद्रमा को उसने पेट के बाहर निकाल फेंका, जैसे वह भी उसके लिए कालकूट ही का भाई हो। अच्छा, यदि समुद्र को उसका रख छोड़ना सहन न हुआ तो महादेवजी ही उसे कालकूटवत् पी जाते। पर उस विषम विष का तो वे पी गये और इसे छोड़ दिया! सो उन्होंने भी मुझ अभागिनी की सहायता न की। वे तो सर्वसमर्थ हैं। चाहते तो चंद्रमा को भी गले के भीतर रख लेना उनके लिए कोई बड़ी बात न थी।

एक बात बड़े ही आश्चर्य की है। समुद्र से निकले हुए काले रंग के कालकूट विष को अकेले महादेवजी ही ने पी लिया था। सो उन्हीं एक के पी लेने से वह समूल नष्ट हो गया। अब वह कहीं देखने को नहीं मिलता। उसका अस्तित्व ही लोप हो गया। पर वहीं उसी समुद्र से निकले हुए इस सफ़ेद रंग के विष (चंद्रमा) को देख। बार बार उसे पीकर देवता उसका क्षय कर देते है और बार-बार वह फिर-फिर से उदय हो आता है। उसका नाश ही नहीं होता। क्यों, यह अचंभे की बात है या नहीं?

षोडश कलाओं से पूर्ण पूरा चंद्रमा तो महापापी है; क्योंकि वह विरहियों के समुदाय का सदा ही वध किया करता है। वधिक

पापात्मा न गिना जायगा तो कौन गिना जायगा ? पर देवताओं के द्वारा अमृत के पी लिये जाने पर क्षीण हुआ चंद्रमा कदापि पापी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वधिक-कार्य्य पौर्णमासी ही के चंद्रमा के द्वारा होता है, और किसी तिथि के क्षीण चंद्रमा द्वारा नहीं। क्यों, बात ठीक है न ? परतु ग्रहज्ञानी ज्योतिषियों की मूर्खता को तो देख ! वे उलटी ही हाँकते हैं। वे कहते है, पूर्णचद्र शुभग्रह है और क्षीण चद्र पापग्रह ! कैसी दिल्लगी है—

क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः ;
पूर्णचन्द्रबुधाचार्य्यशुक्रास्ते स्यु' शुभग्रहाः।

क्यों सखी, क्या तू जानती है कि कृष्णपक्ष का नाम बहुल क्यों है ? कारण यह है कि विरहिजन इस पक्ष का बहुत आदर करते हैं। यह पक्ष उनके बहुल सम्मान का पात्र है इसी से इसका यह नाम पडा। अच्छा, अमा (अर्थात् अमावास्या) को यह नाम क्यों मिला ? इसलिए कि उस रात को (चंद्रमा का सर्वथा अभाव होने के कारण) विरहियों ने अपनी अमा (असिति, न मापी जाने योग्य) श्रद्धा का पात्र समझा है। बहुत आदर का पात्र होने के कारण कृष्णपक्ष को बहुल का और अमित आदर-सत्कार का पात्र होने के कारण अमावास्या को अमा का खिताब विरही जनों ही का दिया हुआ है। क्यों, मेरा यह कथन ठीक है न ?

आज तक राहु ने सैकडों, हज़ारों दफ़े पकड़-पकड़ कर चंद्रमा को अपने मुँह मे रक्खा होगा। पर समझ में नही आता, वह हर दफ़े उसे छोड क्यों देता है। दही में सने हुए मीठे मीठे सत्तुओं के गोले को मुँह में रखकर भी भला कोई छोड सकता है। चंद्रमा ठीक ऐसे ही गोले के समान है। हाँ, एक बात हो सकती है। बहुत संभव है, राहु को अपने शत्रु चक्रपाणि के गोल-गोल चक्र का धोखा हो जाता होगा। इसी से चंद्रमा को

लील कर भी वह छोड़ देता है। उसे डर लगता होगा कि कहीं ऐसा न हो जो यह फिर मेरा कंठ काट डाले! दोनों का सादृश्य ही इसका कारण जान पड़ता है—चंद्रमा भी गोल और सफ़ेद, सुदर्शन-चक्र भी गोल और सफ़ेद। नहीं, नहीं, मेरा यह अनुमान ठीक नहीं। मुख के भीतर चन्द्रमा को पाकर भी, राहु उसे अपनी इच्छा से कदापि न छोड़ता होगा। यह चंद्रमा ही उसके गले की राह निकल भागता होगा। क्योंकि गले के नीचे का भाग तो राहु के है नहीं, वह तो केवल शीशमात्र है। राहु के यदि पेट और आमाशय होता तो वह चंद्रमा को उनके भीतर पहुँचा कर उसे ज़रूर हज़म कर जाता।

इन पुराने पौराणिकों के भोलेपन की हद नही। ये तत्त्वदर्शी नहीं। किसी बात की तह तक पहुँचते ही नहीं। इनकी बुद्धि सदा ऊपर ही ऊपर चक्कर काटा करती है; भीतर धँसना जानती नहीं। इसी से ये लोग विष्णु को राहु का सिर काटनेवाला कहते हैं। यह और कुछ नही, इनके बुद्धिमांद्य का प्रखर परिणाम है। इन्हें चाहिए था कि ये भगवान् मधुसूदन को लाखों विरहिणी नारियों का सिर काट लेनेवाला कहते। क्योंकि अकेले एक राहु का कत्ल करके—उसके सिर को धड़ से जुदा करके—अनेकानेक अबलाओं का वध-साधन करने का द्वार मधुसूदन ही ने खोल रक्खा है। राहु का सिर वे यदि न काट डालते तो वह चंद्रमा को लीलकर कबका उसे पचा गया होता। परतु शीर्षमात्र रह जाने से वह चंद्रमा को नही पचा सकता। वह उसे खा तो जाता है; पर हर दफे वह उसके गले के नीचे से निकल भागता है और वियोगिनी वनिताओं की हत्या करने के व्यापार में फिर पूर्ववत् लग जाता है। सो इस सारी हत्या का पातक विष्णु ही के सिर पडता है। इसी से उन्हे राहु का सिर काटनेवाला न कहकर वियोग-विधुरा वधुओं ही का सिर काटने-

वाला कहना चाहिए। राहु के यदि जठराग्नि होती तो क्या आज तक यह चांडाल चद्र बच भी जाता और क्या वियोगिनी नारियाँ इस तरह बे-मौत मारी जाती ?

पुराने ज़माने की बात कहती हूँ। बात निराधार नही। वेद में भी उसका उल्लेख है। एक दफे महादेवजी ने मखरूपी मृग का सिर उडा दिया। यह बात देवताओं के सर्जन जनरल अश्विनीकुमार को बरदाश्त न हुई। उन्होने कहा—मैं ठहरा मन्मथ महाराज का मित्र और शिवजी ठहरे उनके शत्रु। अपने मित्र के शत्रु के काम में विघ्न डालना मित्र का परम कर्तव्य है, यह बात राजनीति तक में लिखी है। यही सोचकर अश्विनीकुमार ने उस मृग के सिर को धड से जोड कर फिर उसे जिला दिया। महादेवजी अपना सा मुँह लेकर रह गये। सखी, तलाश तो कर। क्या वैसा सर्जन अब भी कहीं मिल सकता है ? मिले तो उसे बुला ला और राहु के सिर को उसके कबंध (केतु) के गले पर रखवाकर फिर उसे पूर्ववत् करा दे।

यदि यह न हो सकता हो तो एक योजना और भी तो है। युद्ध में राजा नल जब अपने शत्रुओ का सिर काट देता है तब उनके निःशीश कबंध इस डर से ऊपर को उछलते—ऊपर को उडते—हैं कि वहाँ शायद मौत से बच जायँ। उसी समय राहु ही क्यों न दौड कर एक आध ऐसे कबंध के गले से चिपक जाय और ताज़े बहते हुए रुधिर को, चूने के प्लास्टर के सदृश, दर्ज मे लगाकर उसे दृढ कर दे। यह भी न सही, एक युक्ति और भी हो सकती है। जरा नाम की राक्षसी को तू जानती होगी। वही जरा जिसने मगध-नरेश शिशुपाल के शरीर के दो टुकडों को जोड कर एक कर दिया था। ज़रा उसी जरा के पास चली जा और पूछ कि तू केतु के कबध और राहु के सिर को भी, शिशुपाल के शरीर के दो टुकडों की तरह, क्यों नही जोड देती ? उससे कह—"जोड दे। तुझे बडा पुण्य होगा।"

अच्छा राखी, मेरी तरफ़ से राहु से यह तो पूछ कि तू चंद्रमा को निगल कर उसे छोड क्यों देता है। क्या तू उसे द्विजराज (ब्राह्मण भी द्विजराज कहाता है और चंद्रमा भी) समझ कर जाने देता है? क्या यह रियायत उसके द्विजराजत्व के कारण है? यदि यही बात हो तो यह तेरी सरासर भूल है। यदि वह द्विजराज होता तो वारुणी (मदिरा भी वारुणी कहाती है और वरुण की दिशा—पूर्व दिशा—भी) का सेवन करके, पतित होने पर भी, फिर क्यों दिवलोक (स्वर्ग तथा आकाश) में दिखाई देता? वारुणीसेवी पतित द्विजराज को क्या कभी दिवलोक की भी प्राप्ति हो सकती है? अतएव यह चंद्रमा कदापि द्विजराज नहीं; कुछ और ही है। इसे निगल जाने में तुझे कुछ भी संकोच न करना चाहिए।

अथवा, राहुजी, मैं ही तुमसे एक बात पूछती हूं। पर पहले तुम्हे एक पुराने आख्यान की याद दिला देना चाहती हूँ। एक दिन की बात है कि गरुडजी के माँ-बाप के घर, उनके स्वाभाविक खाद्य की सामग्री कुछ भी न रह गई और माँ-बाप बच्चों को भूखा देख सकते नहीं। इस कारण गरुड़ के बाप ने कहा—बेटा गरुड, जा म्लेच्छों ही का भोग लगा। बस, फिर क्या था; जो आज्ञा, कहकर लगे गरुड़ म्लेच्छों को खाने। दैवयोग से एक भ्रष्ट द्विज भी उन म्लेच्छों मे सम्मिलित हो गया था। बस जहाँ गरुड ने उसे मुँह मे रक्खा तहाँ रखने के साथ ही उनके गले में आग सी लग गई। तब तत्काल ही उन्होने उस द्विज को उगल दिया। सो, निगले जाने पर, संभव है, यह चद्रमा तेरे गले में दाह पैदा करता हो और तू इसे द्विजराज समझकर, गरुड ही की तरह, उगल देता हो। यदि ऐसा होता हो तो इस दाह का कारण चंद्रमा की द्विजराजता नहीं। इसका कारण तो इसका स्वभाव है। लाल मिर्च क्यों कडवी होती है? बात यह है कि कडवापन उसका स्वभाव है। इसी तरह दूसरों

को व्यर्थ ही जलाना चंद्रमा का भी स्वभाव है। देख न, मैं अबला हूँ और निरपराध हूँ। फिर भी वह मुझे जलाता है। अतएव द्विजराजंता की शका दूर करके तुझे इसको निःशंक खा जाना चाहिए।

अच्छा मैं तुझे बता दूँ कि चंद्रमा का नाम द्विजराज क्यों है। यह सारी कृपा ब्रह्माजी की है। उनको छोडकर और किसे ऐसी बातें सूझ सकती हैं? तू जानता हो है कि रुचि बदलने के लिए लोक में कभी-कभी चबेने का—दालमोट की—भी ज़रूरत होती है। यमराज ने ब्रह्माजी से चबेनी की योजना कर देने के लिए दरख्वास्त की तो वे बड़े सोच में पड गये। बडी देर तक सोचने के बाद उन्होंने कहा—अच्छा, विरहिणी-गण का चर्व्वण करके ही तुम चबेने की साध पुरी कर लिया करो। इस पर यमराज ने प्रार्थना की कि महाराज मेरे मुँह में दाँत नहीं रह गये। मुझे दाँत भी मिलें। तब ब्रह्मदेव ने षोडश-कलाधारी चंद्रमा की एक-एक कला को एक-एक डाढ़ का काम सौप कर उसे द्विजराज बना दिया। इस प्रकार सोलह डाढ़ों के स्वामी इस द्विजराज की सहायता से यमराज देवता विरहिणी बालाओं का चर्व्वण किया करते हैं। इसी से यह चद्रमा द्विजराज हुआ है। समझे? (संस्कृत भाषा में द्विज-शब्द दाँत, विप्र और विहंग—इन तीनों अर्थों में आता है।)

सखी, मै अब थक गई। कहाँ तक इस चांडाल चंद्र की क्रूरता का वर्णन करूँ। बस एक बात और। इसमे जो कालिमा देख पड़ती है वह क्या है? इस सबंध में मुझे तो दो कल्पनाये सूझती हैं। पहली यह कि यह चद्रमा बहुत करके झखकेतन का झुलसा हुआ मुँह है। जब महादेवजी के कोपानल में वह जलने लगा तब, जान पडता है, ब्रह्मा ने कृपा करके उसे अधजला ही निकाल लिया। इसी से जो अंश उसका जल गया

है वह काला पड़ गया है और उसी को लोग शश या कलंक कहते हैं। दूसरी कल्पना यह कहती है कि चंद्रमा के ये दाग़ बहुत करके पाप की कालिमा होंगे। क्योंकि इसने आज तक असंख्य स्त्रियों का वध किया है। अतएव, यह कालिमा पापजात कालिमा भी हो सकती है।

इस प्रकार के विलाप-प्रलाप से कुछ भी लाभ होता न देख दमयंती ने चंद्रमा को तो छोड़ दिया, मारमहीप की तरफ़ वह झुकी और उसकी ख़बर लेने लगी। पर उस संबंध की चर्चा यहाँ न की जायगी। हाँ एक बात, यहाँ पर, और कह देने की ज़रूरत है।

श्रीहर्ष मिश्र के कल्पना-कल्लोलों को इतना ऊँचा उठते देख एक अर्वाचीन पंडित से न रहा गया। ये पंडितजी श्रीहर्ष के बाद हो गये हैं। जब वे दमयंती के मुख से विनिर्गत चंद्रोपालंभ को पढ़ चुके तब उन्होंने एक श्लोक अपनी तरफ़ से बना कर इस उपालंभ के अंत में जोड़ दिया। इस प्रक्षिप्त श्लोक में उन्होंने ऐसी कल्पना की जो श्रीहर्ष की कल्पनाओं से भी बढ़ी-चढ़ी है। वे बोले—

मिसिरजी महाराज, दमयंती के मुँह से आपने यह सब क्या कहा डाला। आपके इतने ऊँचे उड्डान व्यर्थ हो गये। ज़रा होश में आइए। होश में न रहने ही से आपने कहीं स्वाभाविक, कहीं अस्वाभाविक, कहीं क्लिष्ट, कहीं सरल रचना कर डाली है। जिसे चंद्रमा समझ कर आपने दमयंती से अनाप-शनाप बातें कहा डालीं वह चंद्रमा ही नहीं। हज़रत, वह तो आपकी दमयंती का परम प्यारा राहु है। आप कहेंगे कि राहु तो काला-कलूटा होता है, यह तो शुभ्र है। इसका कारण यह है कि द्विजपति (ब्राह्मण का और चंद्रमा का भी अर्थ देनेवाला शब्द) का बारंबार ग्रास करने के पाप से इसे सफ़ेद कोढ़ हो गया है। है यह राहु, चंद्रमा हरगिज़ नहीं।

विरहिणी वधुओं के मुखचंद्र को पकड कर निगल जाने ही के लिए यह आसमान में चक्कर लगा रहा है। सो दमयंती के मुँह से जिस राहु की आपने इतनी प्रशंसा कराई है वही कहीं उसे उठा कर मुँह में न रख ले! सावधान—

द्विजपतिग्रसनाहितपातक-
प्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघृक्षया
स्फुरति राहुरयं न निशाकर. ॥

नवंबर, १९२२

सोमरस

पूने के नारायण भवानराव पावगी महाशय बड़े पंडित हैं। प्राचीन भारत के विषय में आपने कई पुस्तकें मराठी और अँगरेज़ी भाषा में लिख डाली हैं। कुछ लोगों की समझ में सोमरस एक प्रकार की सुरा अर्थात् शराब है। प्राचीन ऋषि उसका पान करके खूब मत्त होते और नाचते-गाते थे। उसके उपलक्ष्य में वे यज्ञ-याग करते थे और सोमरस देवताओं को भी पिलाते थे। अर्थात् उस समय के देवता भी सुरापायी थे और ऋषि भी। लोगों का यह कथन अथवा यह प्रवाद पावगी महाशय को पसंद नहीं आया। उन्होंने इसे ग़लत समझा और एक छोटी सी पुस्तक, अँगरेज़ी भाषा में, लिखकर लोगों की ग़लती उनके गले उतार देने का परिश्रम उठाया। अपनी पुस्तक में आपने लिखा है कि सोमरस सुरा हरगिज़ नहीं। सोमरस तो मीठा, रोगनाशक, अंधों को आँखें देनेवाला, पंगुओं को पहाड़ पर चढ़ जाने की शक्ति प्रदान करनेवाला, यहाँ तक कि वह मर्त्यों को अमर तक कर देनेवाला था। कहाँ सत्त्वगुणों का वर्द्धक पवित्र सोम, कहाँ महातमोगुणी मद्य! आकाश-पाताल का अंतर। सोमवल्ली बहुत समय से अप्राप्य है। उसके बदले अब और वनस्पतियाँ काम में लाई जाती हैं। उनके गुण-धर्म्म देख कर सोमरस को मदिरा, द्राक्षासव, शणासव (सन के पौधे का आसव) भाँग का रस, ईख का रस आदि समझनेवालों की बुद्धि पर तरस आता है। सोमरस चीज़ ही और थी।

पावगीजी की खोज की ख़बर बाबू ब्रजलाल मुखोपाध्याय, एम्० ए०, बी० एल्० को है या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते।

पर उन्होंने अपने एक लेख मे, जो अभी अपूर्ण ही है, ऐसी बातें कह डालने का साहस किया है जिनसे पावगीजी की खोज का बहुत कुछ खंडन हो जाता है। मुखोपाध्यायजी का यह लेख बँगला-भाषा के मासिक पत्र, भारतवर्ष, की गत फाल्गुनवाली संख्या मे प्रकाशित हुआ है। उसका सारांश सुन लीजिए—

एक दफ़े देवता लोग देश-दर्शन के लिए निकले। कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई गैंडे पर, कोई भैंसे पर, कोई गधे पर सवार दूर तक चले गये। चलते-चलते वे एक अज्ञात देश में जा पहुँचे। वहाँवालों ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और सोमरस पिलाया। उसके पान से देवताओं को परमानंद हुआ। पर वहाँवालों ने बहुत पूछने पर भी देवताओं को यह न बताया कि यह रस किस चीज का है, वह कहाँ मिलती है और उसका रस किस तरह तैयार किया जाता है। पर देवता ठहरे उस्ताद। अपने देश या घर लौट कर उन्होंने गायत्री देवी से कहा कि तुम हो स्त्री। अपने नाज़ो-नख़रे से उस अज्ञात देश के निवासियों को प्रसन्न करके सोम ले आओ और उसके विषय में सभी ज्ञातव्य बातें पूछ आओ। वे लोग बड़े धनुर्धर है। उनको हराकर हम ज़बरदस्ती वह चीज़ उनसे नहीं छीन सकते। इसीलिए इस काम के लिए हम तुम्हारी योजना करते हैं।

देवताओं की दरख़्वास्त गायत्री ने मंज़ूर कर ली। उसने कहा "तथास्तु" और पाथेय (गुड और सत्तू) का प्रबंध करके वह उड चली। यथासमय वह गधर्वों और किरातों के देश मे आकर दाख़िल हुई। वहाँ उन लोगो के राजा कृशानु को उसने यथाशक्ति ख़ूब रिझाया और उससे सोम माँगा। पर उसने उसे देने से इनकार कर दिया। तब गायत्री देवी सोम का एक पौधा चुरा कर उड भागी। इस पर रक्षकों ने कृशानु से रिपोर्ट की।

कृशानु ने एक ऐसा तीर मारा कि गायत्री का एक पंख कट गया और सोम का पौधा भी नीचे गिर पड़ा।

अब क्या हो। बिना सोम के देवताओं की नींद-भूख हराम हो गई। बड़े परिश्रम और प्रयत्न के बाद, साम-दान-दंड-भेद का बहुत कुछ प्रयोग करने पर, कृशानु को उन्होंने राज़ी कर पाया। उसके साथ उन्होंने संधि कर ली। शर्त यह ठहरी कि किरात लोग देवताओं के देश में सोम को बेचने के लिये लाया करें और देवता उसे गायें देकर मोल ले लिया करें। यह आदान-प्रदान जारी हो गया और किरातराज की कृपा से देवगण सोमरस पी-पीकर मस्त होने लगे। उसके निमित्त वे तरह तरह के यज्ञ भी करने लगे। धीरे-धीरे उनकी यह नियामत ऋषियों को भी नसीब हो गई। पर देवताओं को उनका हिस्सा देने के लिए वे मजबूर किये गये।

सोमरस का पान सुलभ हो जाने पर श्वेतकेतु औद्दालकि के मन में यह बात आई कि यह जो गाड़ियों सोम किरात-देश से आता है उसका नाम किरातों की भाषा में क्या है, ज़रा इसका तो पता लगाना चाहिए। गंभीर गवेषणा करने पर उसे मालूम हुआ कि किरात लोग उसे अशनाउशना कहते हैं। खोज का यह फल श्वेतकेतु ने और भी पाँच आदमियों के सामने बयान किया। तब यह बात शतपथ-ब्राह्मण में लिख ली गई। इसलिए कि आजकल लिखी गई दस्तावेज़ों की तरह वक्त ज़रूरत पर काम आवे।

अच्छा तो यह अशना या उशना शब्द किरातों की भाषा का ठहरा। इस भाषा की यह विचित्रता है कि उच्चारण के समय शब्दों के पहले बहुधा अ या उ लगा लिया जाता है। 'प' का अर्थ है पिता; पर बोलनेवाले बोलते हैं उप। इसी तरह अ जोड़ने के भी उदाहरण पाये जाते हैं। अतएव किरात-भाषा में अशना या उशना

शब्द का मूल हुआ शना। इस शना का ना संस्कृत में ण हो गया। रहा, उसका अंत्य आकार, सो वह केवल उच्चारण के सुभीते के लिए है। इससे ज्ञात हुआ कि किरातों का अशना या उशना संस्कृत के शण के सिवा और कुछ नहीं। किरात-भाषा के विषय में डॉक्टर ग्रियर्सन इत्यादि ने जो खोज की है उससे यही बात सिद्ध होती है। भाषा-तत्त्व के नियमों के अनुसार प्राचीन ग्रीक भाषा का शब्द कन (Kanna) इसी शण का ही पर्यायवाची है। इन दोनों शब्दों का प्राचीन अर्थ भी एक ही, अर्थात् भाँग का पौधा, है। अतएव ज्ञात हुआ कि सोम और कुछ नहीं, वह शण अर्थात् भाँग के पौधे का नाम है। क्योंकि शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि सोम और शण एक ही वस्तु है।

वैदिक संस्कृत-भाषा के सिवा और भाषाओं में भी यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत है। यथा—

(१) ताँगत लोगों की भाषा में भाँग के पौधे को सोम (Dschoma) कहते हैं।

(२) डाहुरिया के मुग़ल भाँग के पौधे को सिम कहते हैं।

(३) तिब्बत की भाषा में भाँग का पौधा सोमरस कहाता है।

(४) चीनवाले भी इस पौधे को सिम या सुम कहते हैं।

सर जार्ज वाट ने अपने कोश में लिखा है कि सुम वृक्ष का रस मादक होता है। इससे मालूम हुआ कि सोम शब्द बहुत प्राचीन है और अनेक देशों की भाषाओं में वह भाँग के पौधे का वाचक है। वैदिक भाषा और चीनी तथा तिब्बती आदि भाषायें एक ही वंश की भाषायें नहीं हैं। फिर उनमें यह शब्द एक ही अर्थ का वाचक कैसे हुआ? इसका कारण यह जान पड़ता है कि जिस जाति के निवास-स्थान में सोम उत्पन्न होता था उसी जाति के अभिहित नाम को और देशवालों ने भी ग्रहण कर लिया है। यह पौधा

किरातों ही के देश में उत्पन्न होता था और वहीं से अन्यान्य देशों को जाता था। इससे उन्हीं की भाषा का नाम और देशवालों की भाषा में भी प्रचलित हो गया। वैदिक ऋषियों ने भी यह शब्द ज्यों का त्यों किरातों ही की भाषा से ले लिया। उसे ले लेने के बाद उसकी व्युत्पत्ति सू—धातु से बताने का प्रयत्न किया गया। परंतु प्रमाणों से यही सूचित होता है कि यह शब्द शुद्ध संस्कृत-भाषा का नहीं।

निरुक्तकार यास्क ने तीन प्रकार के देवताओं की कल्पना की है—आकाश के देवता, मध्यस्थान के देवता और भूस्थान के देवता। अर्थात् तीनों स्थानों मे उनके जुदा-जुदा तीन रूप होते है। इस कारण आकाश के देवता सोम का रूप तो चंद्रमा हुआ, मध्यस्थान का वायु हुआ और भूस्थान का सोम अर्थात् शण-वृक्ष हुआ।

ऋग्वेद में लिखा है कि सोम की छाल काली या घोरवर्ण होती है। छुडाने से वह शीघ्र ही निकल जाती है। उसका रस पतला और हरे रंग का होता है। उसमे पतले-पतले रेशे होते हैं। उसमें गाँठें भी होती है। डालियाँ नरम होती हैं। पौधा सीधा होता है— अर्थात् वह लता के रूप में नहीं होता। पहाडों की तराइयों में, जल के पास, बहुत होता है। पशु उसे खाते हैं। गंध उग्र होती है। बहुत सोमरस पीने से वमन होने लगता है। इसी से शायद, पीछे से, दूध और शहद मिला कर सोमरस पीने की चाल पड गई। संभव है, अधिक पी जाने से, ख़ूब नशे में आकर, ऋषियों को वमन होता रहा हो। इसी से उन्होंने नशे को कम करने—उसकी उग्रता दूर करने—के लिए सोमरस में दूध, दही और मधु मिलाना शुरू किया हो।

सोम के पौधे के जिन गुण-धर्म्मों का उल्लेख ऊपर किया गया उस उल्लेख का आधार ऋग्वेद के नवें, चौथे और पहले मंडल के

कुछ मंत्र हैं। परंतु इस संक्षिप्त वर्णन से सोम का संपूर्ण परिचय नहीं प्राप्त होता; बात फिर भी संदिग्ध रह जाती है। तथापि यह वर्णन उसका कुछ पता तो अवश्य ही देता है। इससे इतना ज़रूर ही मालूम हो जाता है कि सोम एक छोटा सा वृक्ष था; उसकी शाखायें नरम होती थीं; उसमे रेशे और गाँठे होती थीं; उसका रस हरा, उग्र गंधवाला और मादक था। रस अधिक पीने से वमन होता था। दूध और शहद मिलाने से रस की उग्रता कम हो जाती थी। सोम की गणना एक प्रकार की ओषधि मे थी।

शतपथ-ब्राह्मण मे लिखा है कि सोम का उत्पत्ति-स्थान मुंजवान् पर्वत है। वह कैलाश पर्वत के पास, उसके दक्षिण मे, है। मुंजवान् और कैलाश दोनो ही हिमालय के अश हैं। वे गंधर्व्वों और किरातों ही के देश के अंतर्गत हैं। वहीं के निवासी, असभ्य मनुष्य, सोम को लाते और वैदिक ऋषियों के हाथ बेचते थे।

वैदिक ग्रथों मे जो कुछ लिखा है उससे, और भाषाशास्त्र के वेत्ताओ ने जो कुछ निश्चय किया है उससे भी, यही सूचित होता है कि वैदिक सोम हम लोगों की विजया, भाँग या भंग के सिवा और कुछ नहीं। उसका पौधा किरातों और गंधर्व्वों के वासस्थान, पहाडी प्रांतों, ही मे होता था। वहीं से वह प्राचीन आर्य्यों को मिलता था। धीरे-धीरे आर्य्य-जन जैसे-जैसे अपने पहले के स्थिति-स्थान से दूर जाते गये वैसे ही वैसे सोम दुष्प्राप्य और अप्राप्य होता गया। इस दशा में उन्होंने उसके बदले और वनस्पतियो से काम लेना आरंभ कर दिया। मीमांसा-शास्त्र में लिखा भी है—"सोमा-भावे पूतिविधिः।" यह पूति क्या चीज़ है, ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। संभव है, जिसे आजकल हम लोग पोइ या पोय का साग कहते हैं वही हो। दाक्षिणात्य ब्राह्मण सोम की जगह एक और वनस्पति का उपयोग करते हैं। वह पूने के पास एक पहाड़ी जगह में पाई

जाती है। परंतु वह लता नहीं; वह तो एक पौधा है और चार पाँच फ़ुट ऊँचा होता है। प्रोफ़ेसर हॉग ने अपने एक ग्रंथ में यही लिखा है। वैदिक ग्रंथों में भी यह कहीं नहीं लिखा कि सोम एक प्रकार की प्रतति या वल्ली है। जहाँ कहीं उसका उल्लेख है, यही है कि वह एक प्रकार का पौधा है। सायनाचार्य्य ने अलबत्ते सोम को सोमवल्ली के नाम से अभिहित किया है। परंतु इसका कुछ भी प्रमाण नहीं कि उन्होंने इस विषय में खोज करके सोम को वल्ली ठहराया हो। उनके कथन का आधार सुनी सुनाई बातें ही हो सकती हैं। क्योंकि बहुत समय से कुछ लोगों की यह समझ हो गई है और सायन के समय में भी थी कि सोम एक प्रकार की लता है। यहाँ तक कि सोम की अपेक्षा सोमलता नाम ही अधिक प्रसिद्ध हो गया है। परंतु यह सोमलता वैदिक सोम नहीं हो सकती। यह लता तो एक और ही वनस्पति या ओषधि है, जिसका वर्णन आयुर्वेद के किसी ग्रंथ में इस प्रकार किया गया है—

श्यामलाम्ला च निष्पत्रा क्षीरिणी त्वचि मांसला।
श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमाख्या छागभोजनम्॥

यह श्लोक किस ग्रंथ का है, मालूम नहीं। इसी के आधार पर परलोकगत अध्यापक मोक्षमूलर और योरप के कई अन्य पंडितों में वाद-विवाद हुआ था। कोई कहता था कि इस श्लोक में निर्दिष्ट सोमवल्ली ही वैदिक सोम की वाचक है; कोई कहता था कि नहीं, यह कोई और ही वनस्पति है। अच्छा तो इसका निर्णय किस प्रकार हो? इसके निर्णय का एक ही मार्ग है। वह यह कि सोम के वैदिक वर्णन से यह मिलता है या नहीं। उत्तर यह है कि दो एक बातों को छोड़ कर और किसी बात में यह नहीं मिलता। यथा—

वैदिक वर्णन के अनुसार सोम काला और वामक होता है, और पशु उसे चरते हैं। उसके ये गुण इस श्लोक से भी पाये जाते हैं।

परंतु इसमें जो यह लिखा है कि सोम एक प्रकार की वल्ली है; उसमें पत्ते नहीं होते; उससे दूध निकलता है; उसकी त्वचा मांसल होती है; वह श्लेष्मकारक और खट्टी होती है—इनमें से एक भी गुण वैदिक सोम में नहीं। अतएव यही मानना पड़ता है कि वैदिक सोम और चीज़ है और यह आयुर्वेदिक सोमवल्ली और चीज़। इस विषय में वैदिक प्रमाण ही अधिक मान्य है, आयुर्वेदिक नहीं।

महिम्न-स्तोत्र में लिखा है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः

अर्थात् शिवजी ही सोम हैं। इससे सूचित है कि शिव का एक नाम सोम भी है। सूचित क्यों, उनका एक नाम यह प्रसिद्ध ही है। अच्छा तो उनका यह नाम हुआ क्यों? बात यह है कि जिस समय देवी-देवताओं की मूर्त्तियों की कल्पना हुई थी उस समय उनकी प्यारी वस्तुओं, अथवा उनके गुणों की प्रकाशक वस्तुओं, से भी वे अलंकृत की गई थी। अतएव क्या यह संभव नही कि सोम शिव की प्यारी वस्तु समझी गई हो अर्थात् कल्पकों ने यह सोचा हो कि शिवजी सोमरस ख़ूब पीते हैं? इसी से उन्होंने निश्चय किया हो कि उनका एक नाम सोम भी होना चाहिए? यदि यह संभावना सत्य हो तो शिवजी की परम प्यारी वस्तु सोम को आप भंगा (भाँग) के सिवा और क्या मान सकते हैं? अपढ़ भँगेडी तक इस बात को जानते हैं और भाँग का लोटा चढ़ाते वक्त उनका जयजयकार करते हैं।

भंगा-शब्द के विषय में शब्दकल्पद्रुम में लिखा है— शणाख्य-शस्यम्। यथा, भङ्गा शस्ये शणाह्वये। इस मत का प्रमाण भी वहाँ दिया हुआ है—"इति मुकुटधृतरुद्रः।"

शब्दचंद्रिका में लिखा है—

त्रैलोक्यविजया भङ्गा विजयेन्द्राशनं जया।

अर्थात् त्रैलोक्यविजया, विजया, जया, इंद्राशन और भंगा ये सभी पर्य्यायवाची शब्द हैं। इनमें से इंद्राशन का अर्थ हुआ—इंद्र का प्यारा खाद्य या पेय पदार्थ। इंद्र का प्यारा खाद्य है सोम। इसी से सोमयाग में इंद्र को वह खूब पिलाया या खिलाया जाता है। अतएव सोम ही क्या भंगा नहीं?

आजकल की भंगा ही वैदिक समय का सोम है, इसके अन्यान्य प्रमाण जो दिये गये उनमें से एक प्रमाण—सबसे अधिक महत्त्व का—है। वह है—

(१) उशना (अशना) = सोम (शतपथ-ब्राह्मण ४-२-५-१५)
(२) सोम = शण (शतपथ-ब्राह्मण ६-६-१-२४)
(३) शण = भंगा (शब्दकल्पद्रुम)
(४) सोम = भंगा

मई, १६२२

जर्मनी में संस्कृत-भाषा का अध्ययन-अध्यापन

अँगरेज़ लोग संस्कृत-भाषा के अध्ययन और अध्यापन की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। भारतवर्ष में उनके शासन का आरंभ हुए कोई डेढ सौ वर्ष हो चुके। परतु इस देश के ज्ञान का जो अनंत भांडार संस्कृत के ग्रथों में भरा पडा है उसे आयत्त करने के लिए उन्होंने बहुत ही कम श्रम और यत्न किया है। उन्होंने न अपने ही देश में उसके अध्ययनाध्यापन के लिए यथेष्ट प्रबंध किया और न भारत ही में नियुक्त अपने देशवासियों के लिए संस्कृत सिखाने की कोई अच्छी योजना की। फल यह हुआ है कि कुछ इने-गिने अँगरेज़ अब तक इस भाषा का अध्ययन कर पाये हैं। सो भी उन्होने राज-सत्ता की प्रेरणा से यह काम नही किया, किंतु अपनी विद्याभिरुचि की प्रेरणा से किया है। प्रतिकूल इसके अन्य देशवालों ने, उदाहरणार्थ जर्मनो, फ़्रांस और आस्ट्रिया के निवासियों ने, इस विषय की ओर अँग-रेज़ों की अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान दिया है। उनमें से अनेक विद्वानों ने संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य—विशेष कर केवैदिक साहित्य—का अध्ययन करके सैकडों उपादेय ग्रथो की रचना, आलोचना, सपा-दना और अनुवादना कर डाली है। उनके इस काम से भारतवर्ष की कीर्ति सारे योरप, अमेरिका और चीन-जापान तक फैली है। उन्हीं की बदौलत विदेशवासियों ने भारत को अधिकतर पहचाना है, इँग-लिस्तान के निवासियों की बदौलत नही। क्या यह दुःख और परिताप की बात नहीं कि जिनका सबध भारतवर्ष से इतना घना है वे तो उसके प्राचीन साहित्य से इतने उदासीन रहे और जिनका संबंध उससे दूर का भी नहीं वे उसके साहित्य के अध्ययन मे इतना मनोनिवेश करें?

लोगों की शिकायत में पहले हमें कुछ अत्युक्ति जान पड़ती थी; पर उस दिन अँगरेज़ी के "माडर्न रिव्यू" नामक मासिक पत्र में एक लेख पढ़ने पर हमारी वह भावना दूर हो गई। यह लेख जर्मनी की राजधानी बर्लिन के विश्वविद्यालय के अध्यापक जान नोबल, पी-एच्० डी०, ने, उक्त पत्र के फ़रवरी, १९२३ के अंक में, प्रकाशित कराया है। इस लेख से सूचित है कि इँगलिस्तान की अपेक्षा जर्मनी में संस्कृत-भाषा के पठन-पाठन का बहुत अधिक प्रचार है। वहाँ एक भी प्राचीन और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जहाँ संस्कृत-भाषा की शिक्षा के लिए अध्यापक न हों। आज तक उस देश में सैकड़ों जर्मनी-निवासियों ने संस्कृत-भाषा का अध्ययन करके अनेकानेक ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन कर डाला है। उनकी इस विद्याभिरुचि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इस विषय में जर्मनी और इँगलैंड की पारस्परिक तुलना करने पर आकाश-पाताल का अंतर देख पड़ता है।

जर्मनी में संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और ग्रंथ-प्रणयन के विषय में अध्यापक नोबल ने अपने लेख में जो कुछ लिखा है उसका सार-संकलन सुन लीजिए—

बर्लिन के विश्वविद्यालय में संस्कृत-भाषा सिखाने के लिए इस समय तीन अध्यापक हैं—लूडर्स, ग्लासनैप और नोबल। लूडर्स जो काम करते हैं वही काम उनके पहले वेबर और पिशल करते थे। वेबर ने ५३ वर्ष तक (१८४८ से १९०१ ईसवी तक) अध्यापन-कार्य्य किया। उनके पहले इस पद पर अध्यापक बॉप थे। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रथम आचार्य्य बॉप ही थे। वेबर ने संस्कृत-साहित्य की प्रायः प्रत्येक भाषा का ज्ञान-संपादन किया था। इसी से वे संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखने में समर्थ हुए। उनका यह इतिहास अब तक बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। प्रशिया

के राजकीय पुस्तकालय में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की जितनी हस्तलिखित पुस्तकें हैं—और वे कई हज़ार होंगी—उनका एक विस्तृत सूचीपत्र वेबर ने तैयार किया। उसमें उन्होंने प्रत्येक पुस्तक का बहुत कुछ परिचय भी दिया। उनका यह सूचीपत्र बडी-बडी चार जिल्दों में छपा है और संस्कृत के प्रेमियों के लिए अनमोल है।

पिशल ने केवल ७ वर्ष अध्यापना की। १९०८ ईसवी में उनकी मृत्यु, मदरास मे, हुई। उन्होंने कालिदास के शाकुंतल-नाटक पर एक आलोचनात्मक उत्तम पुस्तक लिखी। १९०३ ईसवी में उन्होंने अपना प्राकृत-व्याकरण प्रकाशित किया, जिसके अवलोकन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने प्राकृत भाषाओं का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। वैदिक ग्रंथों का भी अध्ययन उन्होने किया था और वैदिक साहित्य की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर जो ग्रथ (Vedischi Studien) उन्होंने लिखा है वह ख़ूब गवेषणा-पूर्ण है और तीन जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

पिशल के बाद उनकी जगह लूडर्स को मिली। इसके पहले ही तुर्किस्तान के खँड़हर खोदने पर सैकड़ों प्राचीन पुस्तकें, वस्तुयें, सिक्के, लेख आदि मिल चुके थे। उनकी प्राप्ति ने भारत ही के नहीं, जो और देश तुर्किस्तान के आसपास थे उन सबके भी, इतिहास, साहित्य और धर्म्म आदि से संबंध रखनेवाली नई-नई बातों का पता बता दिया। अतएव गवेषणा का द्वार पहले से बहुत अधिक विस्तृत हो गया। उससे लाभ उठा कर अध्यापक लूडर्स ने अनेक महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। वे सब बर्लिन की एक संस्था (प्रशियन अकाडमी आफ़ सायंस) के जर्नल में निकले। इसके सिवा लूडर्स ने पुरातत्त्व-विषयक और भी कितने ही काम किये हैं। प्राचीन उत्कीर्ण लेखों के संपादन और प्रकाशन से भी उन्होंने विशेष कीर्ति लाभ किया है।

डॉक्टर ग्लासनैप और नोबल के कार्य्य का अभी आरंभ-काल ही है। तिस पर भी इन दोनो ने संस्कृत-काव्य और अलंकार-शास्त्र पर कितने ही लेख, बड़े मार्के के, लिख कर प्रकाशित किये हैं।

अब गार्टिजन के विश्वविद्यालय का हाल सुनिए। वहाँ संस्कृत-भाषा की अध्यापना का काम ई० सिग कर रहे हैं। डॉक्टर डब्लू सीजलिंग नाम के एक जर्मन पडित बर्लिन मे रहते हैं। उन्हें भी पूर्वी देशों की भाषाओं से बडा प्रेम है। वे और सिग दोनों मिल कर तुर्किस्तान में प्राप्त हुए कुछ लेखों और ग्रंथों आदि का संपादन-कार्य्य कर रहे हैं। ये लेख एक अज्ञात भाषा में हैं। अध्यापक लूडर्स की राय है कि यह अज्ञात भाषा साकिश नाम की भाषा है। गार्टिजन में सिग के पहले एच्० ओल्डनबर्ग संस्कृताध्यापक थे। उनकी विद्वत्ता बहुत बढ़ी-चढी थी। वेद और पाली भाषा के वे अपूर्व पंडित थे। वैदिक ग्रंथों पर उनका लिखा हुआ ग्रंथ देख कर उनके अगाध पांडित्य का पता लगता है। ओल्डनबर्ग ने गौतम बुध का जो चरित लिखा है वह बड़े आदर की चीज़ है। इस ग्रंथ के निकलने के पहले बुध को लोग एक कल्पित व्यक्ति समझते थे। ओल्डनबर्ग के पहले गार्टिजन में कीलहार्न साहब संस्कृत पढ़ाते थे। ये वही कीलहार्न हैं जो बहुत समय तक दक्षिणी भारत मे संस्कृत के अध्यापक थे। ये नामी वैयाकरण थे। बहुत शुद्ध संस्कृत बोलते और लिखते थे। इनका बनाया हुआ संस्कृत-व्याकरण भारत के कितने ही कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तक नियत है। इनका प्रकाशित किया हुआ व्याकरण-महाभाष्य का जो संस्करण है और व्याकरण पर जो लेख इनके लिखे हुए हैं उनसे सूचित होता है कि इस शास्त्र में इनकी गति अप्रतिहत थी। बहुत से भारतीय उत्कीर्ण लेखों का भी संपादन और अनुवादन करके कीलहार्न ने अपनी संस्कृतज्ञता और गवेषणा की गंभीरता का परिचय दिया है।

बॉन-विश्वविद्यालय के अध्यापक आफरेट ने हस्तलिखित संस्कृत-ग्रंथों का एक सूचीपत्र, बडी-बडी तीन जिल्दों में, प्रकाशित करके अपना नाम अमर कर दिया है। उनका संपादित ऋग्वेद भी बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। आफरेट के बाद उनकी जगह एच्० जैकोबी को मिली। ये, कुछ ही समय पूर्व, भारत गये थे और वहाँ बहुत समय तक रहे थे। वहाँ इनका बडा आदर हुआ था। इन्होंने अपने कल्पसूत्र के संस्करण मे पहले पहल यह प्रमाणित किया कि जैन-धर्म्म का उद्‌गम बौद्ध-धर्म्म से नहीं हुआ। इन्होने यहाँ तक सिद्ध कर दिखाया कि जैन-धर्म्म बौद्ध-धर्म्म से भी पुराना है। इन्होंने जैनों के साहित्य का बडा गहरा अध्ययन किया। इस कारण प्राकृत भाषाओं से भी इनका विशेष परिचय हो गया। भाषा-शास्त्र तथा भारतीय काव्य और अलंकार-शास्त्र पर भी जैकोबी साहब ने कितने ही महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये हैं।

लेपज़िक के विश्वविद्यालय मे पहले अध्यापक ब्राकहास संस्कृत पढ़ाते थे। उन्होंने कथासरित्सागर का अनुवाद जर्मन-भाषा मे किया। उनके बाद उनकी जगह ई० विनडिश को मिली। इन्होंने बौद्ध-धर्म्म पर, वेदों पर और भारतीय नाट्यकला पर अनेक लेख लिखे और कितनी ही नई-नई बातें खोज निकाली। इन्होंने एक अभूतपूर्व ग्रंथ लिखा। वह है संस्कृत-भाषा-शास्त्र। इनके इस ग्रथ को विद्वान् इस विषय का सबसे अधिक प्रामाण्य ग्रंथ समझते हैं। अब इनकी जगह पर अध्यापक हर्टल काम करते हैं। इन्होने पंचतंत्र का अनुवाद करके उसे अपनी विवेचनात्मक आलोचना के साथ प्रकाशित किया है।

ब्रेसलाऊ में हिलेब्राट साहब संस्कृत के नामी विद्वान् हैं। उन्होने वैदिक साहित्य पर कई लेख प्रकाशित किये हैं। उनमे अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य आदि वेद के कल्पित देवताओं का विवेचन करके उनकी तुलना अन्य देशों के देवताओं से की गई है। हिलेब्रांट के

पहले स्टेंज़लर साहब, ब्रेसलाऊ में, संस्कृताध्यापक थे। उन्होंने धर्म-शास्त्र पर बहुत कुछ लिखा है और कालिदास के मेघदूत, कुमार-संभव और रघुवंश का अनुवाद किया है।

मारबर्ग में अब तक ग्यल्डनर साहब संस्कृत की शिक्षा देते थे। वेदों और ज़ेंमद-अवस्ता के ये नामी पंडित हैं। इन विषयों में इनकी बात विद्वन्मंडली में, बिना किंतु परंतु के, मानी जाती है। गत वर्ष इनकी जगह पर बटेल साहब नियत हुए हैं।

हाले के अध्यापक हल्श भी संस्कृत के नामी पंडित हैं। भारत में ये बहुत समय तक रह चुके हैं। दक्षिणी भारत के उत्कीर्ण लेखों पत्रों (South Indian Inscriptions) का संपादन करके इन्होंने उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया है। भारत की कई भाषाओं से ये परिचित हैं। आजकल ये अशोक के अभिलेखों का संपादनकार्य बड़ी योग्यता से कर रहे हैं। हाले ही में आर० शिमिड साहब भी अध्यापक थे। वे अब मन्स्टर-विश्वविद्यालय को बदल गये हैं। उन्होंने कामसूत्र नामक ग्रंथ का अनुवाद, जर्मन-भाषा में, किया है।

कील के विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक श्रेडर साहब, अभी कुछ समय पहले तक, भारत ही में थे। उनका प्यारा विषय है भारतीय दर्शनशास्त्र। डॉक्टर स्ट्रास भी कील में अध्यापक हैं। वे भी दर्शनशास्त्रों ही के अध्ययन में विशेष मनोयोग देते हैं। इन लोगों के पहले, कील में, एफ़्० डूसन संस्कृत पढ़ाते थे। इनका सर्वाधिक प्रेम वेदांत और उपनिषदों पर था। इन्होंने इनका ख़ूब अध्ययन किया था। इन विषयों को ये बड़ी योग्यता से पढ़ाते थे।

ग्रीफ्सवाल्ड में लडविक हेलर संस्कृताध्यापक हैं। ये कीलहार्न के चेले हैं। व्याकरण के ये अच्छे ज्ञाता हैं। विदेशियों को संस्कृत पढ़ाने के बड़े सरल ढंग इन्होंने निकाले हैं। इनसे संस्कृत पढ़ने में विदेशी छात्र बहुत कम घबराते हैं।

उर्ज़्बर्ग-विश्वविद्यालय में अध्यापक जॉली काम करते हैं। भारतीय राजनीति, धर्मनीति और आयुर्वेद में इनकी गति बहुत दूर तक है।

म्यूनिक मे पहले अध्यापक कून संस्कृत पढ़ाते थे; अब एल्० गेगर पढ़ाते हैं। इन दोनों ही ने पाली भाषा के विषय में, ज्ञातव्य बातों से पूर्ण, कितने ही लेख प्रकाशित किये हैं। सिंहाली और ईरानी भाषाओं का जितना ज्ञान गेगर को है उतना जर्मनी के और बहुत कम विद्वानों को होगा। यह इनमें बहुत बड़ी विशेषता है।

तूबिंजन के अध्यापक गार्बे सांख्य और योग के विशेषज्ञ हैं।

हीडलबर्ग में पहले लेफमान साहब संस्कृत पढ़ाते थे। अब अध्यापक बार्थोलोमी पढ़ाते हैं। ये पिछले महाशय ईरानी भाषाओं के उत्कृष्ट ज्ञाता हैं। इन्होंने अवस्ता की भाषा का एक कोश बनाया है। इस कोश से प्राचीन संस्कृत भाषा, अर्थात् वैदिक संस्कृत, से संबंध रखनेवाली भी बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं। इस विश्वविद्यालय में दो अध्यापक और भी हैं—वालेज़र और ज़िमर। बौद्ध-साहित्य के परिशीलन मे ये ख़ूब दत्तचित्त हैं।

हैम्बर्ग का विश्वविद्यालय नया है। पर वहाँ भी संस्कृत-भाषा पढ़ाई जाती है। यह काम अध्यापक शूब्रिंग के सिपुर्द है। जैन-धर्म पर उन्होंने बहुत से लेख लिखे हैं।

फ्रैंकफर्ट का विश्वविद्यालय भी अभी कल का है। वहाँ के अध्यापक प्रिंज़ प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के प्रेमी हैं।

कोनिग्ज़बर्ग के अध्यापक फ्रांके पाली-भाषा के ज्ञाता है। इस विपय में वे अपना सानी, जर्मनी में, नहीं रखते। उन्होने इस भाषा पर और इसमें लिखे गये ग्रंथों पर बहुत कुछ लिखा है। बहुत से अनुवाद भी उन्होने किये हैं। इस विश्वविद्यालय मे पहले नीजलिम साहब संस्कृत पढाते थे। अब वे यरलांजन को

बदल गये हैं। अथर्ववेद-संबंधी ग्रंथों पर उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं और बहुत कुछ टीका-टिप्पणी की है।

जेना के विश्वविद्यालय के अध्यापक कैपलर ने संस्कृत और जर्मन-भाषा का एक कोश बनाया है। उन्होने शिशुपालवध और किरातार्जुनीय का अनुवाद, जर्मन-भाषा मे, किया है और जर्मन-भाषा की कुछ कविताओं का अनुवाद संस्कृत मे।

रोस्टाक और गीसन के विश्वविद्यालयों मे संस्कृत-शिक्षा का अभी तक प्रबंध नहीं हो पाया।

इस इतने ही विवरण से यह बात अच्छी तरह जानी जा सकती है कि जर्मनी के निवासी कितने विद्याव्यसनी हैं; संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य ही के नही, प्राकृत भाषाओं तक के वे कितने प्रेमी हैं; और इन विषयों का अध्ययनाध्यापन उन्होंने अपने प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में कहाँ तक सुलभ कर दिया है। जिन अध्यापकों का उल्लेख इस लेख मे किया गया है उनके सिवा और भी अनेक जर्मन-पंडित संस्कृत-भाषा के ज्ञाता है। उन्होने भी अनेक ग्रंथो, लेखों और अनुवादों की रचना की है। इन समस्त जर्मन-विद्वानो के ग्रंथों और लेखो आदि का यदि संग्रह किया जाय तो एक बहुत बडा पुस्तकालय हो जाय।

मई, १९२३

संस्कृत-साहित्य-विषयक विदेशियों की ग्रंथ-रचना

संस्कृत-भाषा का ग्रंथ-साहित्य बहुत विस्तृत है। किसी समय तो वह अपरिमेय था। छापने की कला का प्रचार इस देश में हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ। उसके पहले यहाँ का समस्त-ग्रंथ-समुदाय हस्त-लिखित पोथियो ही के रूप मे था। तिस पर भी उसकी बहुत रक्षा हुई और रक्षा ही नहीं, समय-समय पर, उसकी वृद्धि भी होती आई। वह ऐसा समय था कि ख़र्च कम था, लोग सादगी से रहते थे, और थोडी ही आमदनी पर संतोष करते थे। विद्वान् पंडितों का सर्वत्र आदर था; उन्हें राजाश्रय मिलता था; सर्व-साधारण जन भी उनकी पूजा-अर्चा करते और दान-दक्षिणा से उनकी अर्थ-कृच्छ्रता को सदा उनसे दूर रखते थे। विद्या-व्यासंग में रत रहना और अपने छात्रो को अपनी विद्या का दान देना ही पंडितों का काम रहता था। इस तरह सुख और संतोष से वे जीवन बिताते और नये-नये ग्रंथों का निर्माण भी करते थे। परंतु समय के फेर से उनके वे सुभीते धीरे-धीरे नष्ट नहीं, तो कम होते गये। उन्हें पेट-पालना दूभर हो गया। बात यहाँ तक पहुँची कि काशी की आचार्य्य और पंजाब की शास्त्री-परीक्षा पास कर लेने पर भी उन्हे सरकारी स्कूलों और पाठशालाओ में ३०) महीने की नौकरी मिलना मुश्किल हो गया। ऐसी दशा में, अँगरेज़ी भाषा के एकाधिकार के पेंच में पड़े हुए पंडितों को नवीन ग्रंथ-रचना करने की बात कैसे सूझती? वे रोटी की फ़िक्र करते या पुस्तक-प्रणयन की?

राज-विप्लव के कारण एक तो यों ही अनंत ग्रंथ-रत्न नष्ट हो गये। फिर जीविका का यथेष्ट प्रबंध न होने के कारण संस्कृत-भाषा पढ़ने से लोगों को विरक्ति भी हो गई। संस्कृतज्ञ विद्वानों की क़दर न होने से नये-नये पंडितों का उद्भव बंद हो गया। फल यह हुआ कि संस्कृत-ग्रंथ-साहित्य की वृद्धि के बदले उसका ह्रास ही होता गया। न अधिक पढ़नेवाले ही रहे, न क़दर ही करनेवाले। यही कारण है, जो अब इस भाषा में रचे गये नवीन मौलिक ग्रंथों का कहीं नाम भी सुनने को नहीं मिलता।

पर इस दुरवस्था के अस्तित्व में आने के पहले ही भारत के प्राचीन पंडितों ने इतना प्रचंड ग्रंथ-साहित्य तैयार कर लिया था कि लूटने-फूँकने, कीटभक्ष्य होने, सड़ने-गलने और रद्दी के भाव बिकने पर भी उसका इतना अंश बच रहा जिसे देख कर उसकी अधिकता पर अब भी विद्वानों को आश्चर्य होता है। एकत्र करने से अकेले वैदिक ग्रंथ ही इतने होंगे जो शायद बंगाल लैन की रेल की १६ टनवाली एक किराची में न समा सकें। पर दुर्भाग्यवश इन ग्रंथों का भी बहुत सा अंश नेपाल, काश्मीर तथा भारत के अन्यान्य प्रांतों का आश्रय छोड़ कर योरप और अमेरिका में जा पहुँचा। निःसहाय और निरुपाय होने के कारण, अभागे भारतवासियों से उस सबकी रक्षा न हो सकी। एक हिसाब से यह अच्छा ही हुआ। यहाँ पड़े रहने से शायद उस अंश का भी नाश हो जाता; क्योंकि जो अंश बच रहा है उसी की हम लोग कौन बड़ी क़दर करते हैं। उसे भी पढ़ने और पढ़ानेवाले ढूँढ़ने से भी शायद इने ही गिने मिलें। ज़िले के ज़िले और प्रांत के प्रांत आप ढूँढ़ डालिए, शायद ही कहीं किसी सौभाग्यशाली के यहाँ ऋग्वेद-संबंधी सभी ग्रंथ मिल सकें। वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, आरण्यकों और गृह्य-सूत्रों के नाम तक

लोग भूल गये। उन्हे अपने संग्रह में रखना और उनका अध्ययन-अध्यापन करना तो बहुत दूर की बात है।

हाँ, जो ग्रंथ विदेशों में पहुँच गये—विशेष करके जर्मनी, इँगलैंड और फ्रांस में—उनकी क़दर अलबत्ते वहाँ हुई। राजकीय संपर्क के कारण कुछ अँगरेज़ों ने, संस्कृत-भाषा सीख कर, उसमें विद्यमान ग्रंथ-रत्नों के महत्त्व का ज्ञान जब प्राप्त कर पाया तब उन्होंने उस बात को औरों पर भी प्रकट किया। इस कारण जिज्ञासा बढी और अन्यान्य पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भी संस्कृत सीख कर ग्रंथ-संग्रह आरंभ कर दिया। धीरे-धीरे इस विषय की चर्चा अधिक होती गई। फल यह हुआ कि कुछ विद्वानों ने संस्कृत-भाषा के महत्त्वपूर्ण और दुष्प्राप्य ग्रंथों को अपनी देश-भाषाओं में प्रकाशित करना आरंभ किया। अनेक ग्रंथों के संस्करण, टीका-टिप्पणी सहित, उन्होंने प्रकाशित किये। अनेक ग्रंथों के अनुवाद भी उन्होंने कर डाले। उन पर अनेक आलोचनात्मक और तुलनामूलक पुस्तकें भी उन्होंने लिख डाली। उनकी विशेषतायें समझाने के लिए भी उन्होंने बहुत ग्रंथ-रचना की। यह सब ग्रंथ-राशि अब इतनी हो गई है कि यदि वह सबकी सब एक स्थान पर एकत्र की जाय तो एक बहुत बडा पुस्तकालय हो जाय। इन विदेशी विद्वानों ने अधिक ग्रंथ-रचना और अधिक ग्रंथ-प्रकाशन वैदिक साहित्य के संबंध ही में किया है। पर और विषयों पर भी इन्होंने लेखनी उठाई है। आयुर्वेद, ज्योतिष, कोश, काव्य, स्मृति—यहाँ तक कि इस देश की कथा-कहानियों की ओर भी इनकी दृष्टि गई है। इनके इस कार्य से भारत को बहुत लाभ पहुँचा है। पश्चिमी देशों को हमारी प्राचीन सभ्यता और शिक्षा का सबसे अधिक ज्ञान इन्हीं विद्वानों ने कराया है। इस विषय में जर्मनी के विद्वान् हमारी कृतज्ञता के सबसे अधिक पात्र हैं।

यहाँ पर हम इन पश्चिमी पंडितों के कुछ ही गौरव-पूर्ण ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देते हैं। पाठक देखेंगे कि इन्होंने कितना काम किया है, कैसे-कैसे ग्रंथ लिखे हैं और कितने अनमोल ग्रंथों को लोप होने से बचाया है।

कोष

(१) सेंट-पीटर्स-बर्ग (पेट्रोग्रेड) में प्रकाशित संस्कृत-कोश। इसका नाम है—The Sanskrita Worterbuch or The St. Petersburg Lexion. इसका संपादन ओटो बार्टलिंग और रुडल्फ रोट ने किया है। बडी-बडी सात जिल्दों में है। अद्भुत ग्रंथ है। बड़े महत्त्व का है। अनेक वर्षों के परिश्रम का फल है। संस्कृत-शब्दों की उत्पत्ति, उनके भिन्न-भिन्न अर्थ, उनके प्रयोग के उदाहरण इत्यादि के सिवा और भी बहुत सी बातों का विचार इसमें किया गया है। संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में इस कोश से बड़ी सहायता मिल सकती है। यह अब अप्राप्य सा है। यदि कहीं होगा तो इसका मूल्य हज़ार बारह सौ रुपये से कम न होगा। इसकी एक कापी हमने कायमगंज में पंडित परमानंद चतुर्वेदी के पुस्तकालय में देखी थी। उन्होंने उसे बडी खोज के अनंतर रूस से प्राप्त किया था।

(२) सर मानियर विलियम, एम्० ए०, का बनाया संस्कृत-अँगरेज़ी कोष (Sanskrita English Dictionary, Etymologically and Philologically Arranged). मूल्य अंदाज़न ७५)

(३) एच्० एच्० विल्सन का संस्कृत-अँगरेज़ी कोष—मूल्य ४०)

(४) पौराणिक कोष। इसकी रचना जे० डौसन ने की है। इसमें भारत के पौराणिक आख्यान, साहित्य, धर्म्म, भूगोल और

इतिहास आदि का विवरण है। ग्रंथ अँगरेज़ी भाषा में है। मूल्य है १०)

(५) हेमचंद्र-सूरि-कृत, महेंद्रसूरि-रचित टीका-सहित, अनेकार्थ-संग्रह। यह वायना में छपा है। ज़करिया नामक विद्वान् ने इसका संपादन किया है। मूल्य है २४)

(६) मंखकोष। इसका भी सपादन ज़करिया (Zachariae) ने किया है। वायना में, १८९८ में, छपा था। मूल्य १८)

(७) वैजयंती-कोष—ओपर्ट द्वारा संपादित। मूल्य १२॥)

वैद्यक

(८) सुश्रुत-संहिता। अनुवाद। एफ़० हेसलर का किया हुआ। चार भागों में। १८४४ ईसवी में जर्मनी में छपा। दुष्प्राप्य है। मूल्य ५०)

(९) वात्स्यायन-कामसूत्र। जयमंगल की टीका-सहित। जर्मन-भाषा में अनुवादित। अनुवादक, आर० शिमिट (R Schmidt)—मूल्य ३०)

ज्योतिष

(१०) सूर्य्य-सिद्धांत। समग्र। अँगरेज़ी भाषा में अनुवादित। टिप्पणियों-समेत। सचित्र और सोदाहरण। बर्जेस-कृत। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य ४५)

(११) आर्य्यभटीय। भट्टदीपिका नामक टीका-सहित। डॉक्टर एच्० कर्न (Kein) द्वारा, १८७४ में, संपादित। मूल्य १५)

(१२) वसंतराज-शकुन। टिप्पणियों-सहित। संपादक, हल्श (Hultzsch) जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य ७)

काव्य

(१३) मेघदूत, वल्लभ-देव-कृत व्याख्या-सहित। संस्कृत-अँगरेज़ी-शब्दकोष-युक्त। अनुवादक, ई० हल्श (E. Hultzsch) विलायत में छपा—मूल्य १०)

(१४) मेघदूत का छंदोबद्ध-अनुवाद। जर्मन भाषा में। अनुवादक, मारकुसेन—मूल्य ४)

(१५) किरातार्जुनीय का अँगरेज़ी-अनुवाद। अनुवादक, सी० कैपेलर (Cappeller) अमेरिका में छपा—मूल्य १०)

(१६) शिशुपाल-वध (माघ) का अनुवाद। सी० कैपेलर का किया हुआ। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य १०)

(१७) गीतगोविंद का अनुवाद। कोर्टीलियर (Courtillier) का किया हुआ। लीवाई (Levi) की भूमिका-सहित। मूल्य ६)

(१८) नलोदय-काव्य। प्रज्ञाकर मिश्र की लिखी टीका युक्त। टिप्पणियों और अनुवाद-सहित। एफ़्० बेनारी (Benary) द्वारा अनुवादित और संपादित। १८३० ईसवी में छपा। दुष्प्राप्य। मूल्य २०)

(१९) मयूर कवि के काव्य और बाण का चंडीशतक। अँगरेज़ी-अनुवाद। नोटिस, भूमिका आदि सहित। क्वैकनबास (Quackenbos) द्वारा संपादित। मूल्य १०)

(२०) रुद्रट-कृत शृंगारतिलक और रुय्यक-कृत सहृदय-लीला। नोट्स और भूमिका-सहित। आर० पिशल द्वारा संपादित। मूल्य १२)

(२१) कथाकौतुक, श्रीवरविरचित। मूल और अनुवाद। शिमिट-संपादित। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य १५)

(२२) कथासरित्सागर, सोमदेव-भट्ट-विरचित। दो जिल्दों में। एच्० ब्राकहासे-द्वारा संपादित। जर्मनी में छपा। मूल्य २०)

(२३) रावणवहो महाकाव्य, सेतुबंध विरचित। दो भागों में। मूल प्राकृत और अनुवाद-सहित। गोल्डस्मिट-द्वारा संपादित और अनुवादित—मूल्य ६०)

इनके सिवा और भी अनेक काव्य, नाटक, चंपू भाण, प्रहसन

आदि इँगलैंड, अमेरिका, जर्मनी और फ्रांस में संपादित और प्रकाशित हुए हैं।

वेद

(२४) ऋग्वेद-संहिता, सायनभाष्य-सहित। भट्ट मोक्षमूलर-द्वारा संपादित। चार जिल्दों में। विलायत में छपी—मूल्य २४०)

(२५) ऋग्वेद-संहिता, अध्यापक ए० लडविग के अनुवाद और विस्तृत-सूची-सहित। छः जिल्दों में। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य १५०)

(२६) ऋग्वेद, एच्० ग्रासमन का अनुवाद। वैदिक छंदों के विवेचन तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सहित। दो जिल्दों में। जर्मनी में छपा हुआ। मूल्य ५०)

(२७) ऋग्वेद, ओल्डनबर्ग-द्वारा संपादित। जर्मनी। दो जिल्दों में। मूल्य ५०)

(२८) ऋग्वेदीय कोष, ग्रासमन-कृत। दुष्प्राप्य। जर्मनी का संस्करण। मूल्य ६०)

(२९) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। संपादक, भट्ट मोक्षमूलर। मूल्य ७०)

इस वेद के और कितने ही संस्करणों का उल्लेख हम छोड़े देते हैं।

(३०) कृष्ण-यजुर्वेद, तैत्तिरेय-संहिता। टिप्पणी-सहित। वेबर साहब-द्वारा सपादित। दो जिल्दों में। मूल्य २५)

(३१) वही, अर्थात् नंबर (३०) अँगरेज़ी-अनुवाद और भाष्य-सहित। दो जिल्दों मे। ए० बी० कीथ साहब की कृति। अमेरिका मे प्रकाशित—मूल्य २५)

(३२) कृष्ण-यजुर्वेद (काठक-शाखा) संपूर्ण। चार भागों में। जर्मनी में छपा हुआ। मूल्य ६०)

(३३) कृष्ण-यजुर्वेद (मैत्रायणी संहिता) सूत्र-ब्राह्मण-समेत। टिप्पणी, सूची, भूमिका-सहित। संपादक, एल्० वी० श्रोडर (Schroeder) चार भागों में। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य १००)

(३४) तैत्तिरेय प्रातिशाख्य। मूल, भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। अनुवादक, डब्लू० डी० ह्विटने। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य ३०)

(३५) शुक्ल-यजुर्वेद। अँगरेज़ी-अनुवाद। ग्रिफिथ-साहब का। मूल्य ४)

(३६) सामवेद। मूल, सूची, टिप्पणी और अनुवाद-सहित। संपादक टी० वेनफी। जर्मनी का छपा। मूल्य ७५)

(३७) वही, अर्थात् नंबर (३६) केवल मूल और अनुवाद। वेनफी-कृत। मूल्य ५०)

(३८) सामवेद, मूल मात्र। स्टेवेंसन-द्वारा संपादित। मूल्य १०)

(३९) अथर्ववेद-संहिता। पिप्पलाद-शाखा। महाराजा काश्मीर के संग्रह में रचित, भूर्जपत्र पर लिखित प्रति से लिये गये फोटो-चित्रों का प्रतिरूप। संपादक, ब्लूमफील्ड और गार्वे। तीन भागों में। प्रायः अप्राप्य। मूल्य ३० पौंड, अर्थात् ४५०)

(४०) अथर्व-वेद। अँगरेज़ी-अनुवाद। समालोचना और नोट्स-सहित। दो भागों में। अध्यापक ह्विटने की कृति। इसमें अन्य महत्त्व-पूर्ण सामग्री भी है। मूल्य ४२)

इस वेद के और भी अनेक संस्करण पाश्चात्य पंडितों ने प्रकाशित किये हैं। इसी तरह सामवेद के भी।

अन्य वैदिक ग्रंथ

(४१) ऐतरेय ब्राह्मण, सायन-भाष्य-सहित। संपादक, टी० आफ़रेट (Aufrecht) जर्मनी का। मूल्य २५)

(४२) आश्वलायन-गृह्यसूत्र। संपादक, स्टेंज़लर। मूल्य १०)

(४३) बृहद्देवता। अँगरेज़ी-अनुवाद और नोट्स सहित। अनुवादक, ए० ए० मेकडालन। दो भागों में। मूल्य २५)

(४४) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र। वाइना में प्रकाशित। मूल्य २५)

(४५) वौधायन-पितृमेधसूत्र। भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। सी० एच्० रावे-कृत। मूल्य १२)

(४६) मानवकल्पसूत्र। कुमारिल-स्वामी-कृत। व्याख्या-सहित। गोल्डस्टुकर की विस्तृत भूमिका से युक्त। मूल्य १२५)

(४७) आपस्तंबीय गृह्यसूत्र। वायना मे प्रकाशित। मूल्य १५)

(४८) पारस्कर-गृह्यसूत्र। नोट्स और अँगरेज़ी अनुवाद-सहित। जर्मनी मे प्रकाशित। मूल्य १०)

(४९) शतपथ-ब्राह्मण। अँगरेज़ी-अनुवाद। जे० एग्लिंग-कृत। पाँच जिल्दों में। मूल्य ७५)

(५०) जैमिनीय गृह्यसूत्र। व्याख्या-सहित। मूल्य १५)

(५१) ,, श्रौतसूत्र। मूल मात्र। मूल्य १५)

(५२) सामविधान-ब्राह्मण। सायन-भाष्य-सहित। बर्नेल-द्वारा संपादित। मूल्य ७॥)

(५३) षड्विंश-ब्राह्मण। सायन-भाष्य-सहित। योरप में छपा। मूल्य १५)

(५४) गोभिल-गृह्यसूत्र। मूल, भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। मूल्य १०)

(५५) कौशिक-सूत्र। सभाष्य। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य ४०)

(५६) गोपथ-ब्राह्मण। अनेक-विषय-विभूषित। मूल्य २५)

वैदिक साहित्य से संबंध रखनेवाले और भी सैकड़ों ग्रंथों का प्रकाशन पश्चिमी देशों मे हो चुका है। उनमें से कुछ तो मूल मात्र हैं, कुछ भाष्य-विभूषित हैं, और कुछ अँगरेज़ी-अनुवाद-युक्त भी हैं।

इसके सिवा वैदिक-साहित्य-विषयक अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना भी इन पंडितों ने की है। उनमें गुण-दोष-विवेचन के साथ ही साथ अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश भी उन्होंने किया है। इस विषय में जितनी ग्रंथ-रचना अन्य देशों में हुई है, उसकी चौथाई भी शायद इस देश में न हुई होगी।

वेदांगों पर भी इन विद्या-रसिकों ने अपनी लेखनी चलाई है। छंद-शास्त्र, व्याकरण, उपनिषद्, दर्शन, धर्म्मशास्त्र आदि कोई भी विषय इनसे नहीं छूटने पाया। पुराणों का प्रकाशन भी इन्होंने किया है और उन पर आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं।

जैनों और बौद्धों के साहित्यो पर भी इनकी दृष्टि गई है। उनकी कथा-कहानियों तक के संस्करण इन्होंने निकाले हैं। जैनों के आचारांक-सूत्र, उत्तराध्ययन-सूत्र, कल्पसूत्र, औपापतिक-सूत्र, आवश्यक-सूत्र आदि के अनुवाद इन्होंने कर डाले हैं। हेमविजय के कथारत्नाकर नामक ग्रंथ तक का अनुवाद हर्टल साहब ने, जर्मन भाषा में, कर दिया है। उसका मूल्य २५) है। बौद्धों के ललित-विस्तर का प्रकाशन, लेफमैन की बदौलत, सुलभ हो गया है। उसके दोनों भागों का मूल्य ६७) है। महावस्तु-अवदान का मूल्य ८०) है। उसका संपादन सेनार्ट ने किया है। बुद्धचरित, अवदानकल्पलता, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, सुखावती-व्यूह आदि ग्रंथ भी अब सुप्राप्य हैं।

जर्मनी, इँगलैंड, फ्रांस, रूस, अमेरिका के बड़े-बड़े पुस्तकागारों में जो अनंत हस्त-लिखित ग्रंथ संगृहीत हैं उन सबके सूचीपत्र भी इन लोगों ने प्रकाशित कर दिये हैं। बर्लिन के पुस्तकालय के सूचीपत्र का मूल्य १२०) है। इन सूचीपत्रों को देखकर आश्चर्य और खेद से हृदय अभिभूत हो जाता है। भारत का संस्कृत-ग्रंथ-साहित्य कितना विस्तृत था, इसका कुछ अंदाज़ा इन सूचीपत्रों से लगाया जा सकता है। पर साथ ही दुःख भी होता है कि हाय, हम अपने

इस अनमोल ख़ज़ाने की रक्षा न कर सके और वह देशांतर को चला गया। पर एक हिसाब से यह जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। अन्यथा, हम अकर्म्मण्य शायद इसे भी खो देते—अन्य ग्रंथों के सदृश यह भी कीटक-खाद्य हो जाता। बर्लिन, पेरिस, लंदन और पेट्रोग्राड में भला यह सुरक्षित तो है।

जून, सन् १९२३

रुक्मिणी-हरण

कुछ समय पूर्व, जबलपुर में, वहाँ के राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर का वार्षिकोत्सव था। उसके सभापति थे काशी-निवासी बाबू भगवान्‌दासजी। आपकी योग्यता, विद्वत्ता और देश-भक्ति सर्वश्रुत है। उत्सव के दूसरे दिन आपने एक व्याख्यान दिया। उसमें आपने श्रीमद्‌भागवत की बड़ी प्रशंसा की। आपने उसके गुण-गान भी किये और उसके पद्यात्मक हिंदी-अनुवाद की आवश्यकता भी बताई।

बाबू साहब का वक्तव्य पढ़ कर हमें परमानंद हुआ। श्रीमद्‌भागवत सचमुच ही अप्रतिम और अनमोल ग्रंथ है। वक्तव्य पढ़ते समय हमारे हृदय में यह भाव उदित हुआ कि अँगरेज़ी भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा पाये हुए सज्जनों में इस तरफ़ भला एक सत्पुरुष तो ऐसा है जो श्रीमद्‌भागवत का इतना आदर करता है, उसे बड़े मोल की वस्तु मानता है और उसके अनुवाद की भी आवश्यकता समझता है।

हमारे वेद, हमारे पुराण, हमारे शास्त्र, हमारे अन्य प्राचीन ग्रंथ हमारे पूर्वजों की दी हुई निधि है। उस निधि की रक्षा करना, उससे लाभ उठाना और उसके अवलोकन से अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप को विस्मृति के गर्त में चले जाने से बचाना हम लोगों का परम पवित्र कर्तव्य है। इस दृष्टि से तो इन ग्रंथों का आदर हिंदू-मात्र को करना ही चाहिए। और दृष्टियों से भी इनके पठन-पाठन की आवश्यकता कम नहीं। इनके अध्ययन और अवलोकन से हमें अपनी प्राचीन सभ्यता, समाज-स्थिति, राजसत्ता, विद्याभिरुचि, कला-कुशलता, बल-वैभव आदि का भी ज्ञान होता है और इस ज्ञान-प्राप्ति से अनेक लाभ हो सकते हैं। इसे भी आप जाने दीजिए। इनसे पारलौकिक ज्ञान की

प्राप्ति भी होती है। जो धर्मनिष्ठ हैं—जो अपने धर्म्म-कर्म्म की बातें जानना चाहते हैं—अथवा जो सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा और भक्ति-योग के तत्त्वों से परिचित होना चाहते हैं वे भी इन ग्रंथों से अपनी अभीष्ट-सिद्धि बहुत कुछ कर सकते हैं। परंतु जो इन विषयों के भी प्रेमी नहीं—जिनका मन वेद, शास्त्र, उपनिषद् और ज्ञान-विज्ञान की बातों में नही लगता—उनके मनोरंजन के लिए भी इनमें बहुत कुछ सामग्री विद्यमान है। श्रीमद्भागवत में तो एक नहीं, अनेक स्थल ऐसे हैं जो महाकवियों की भी वाणी को मात करनेवाले हैं। वे उत्कृष्ट कविता के नमूने है। वे अत्यंत सरस, सालंकार और प्रसाद-गुण-पूर्ण हैं। किसी-किसी स्थल में तो प्रकृत रस का इतना अधिक परिपाक हुआ है कि उस स्थल की रचना के आस्वादन मे हृदय तल्लीन हो जाता है, कुछ समय के लिए आत्म-विस्मृति सी हो जाती है और ऐसा मालूम होने लगता है कि आकलनकर्त्ता का मन किसी और उच्च लोक में विहार कर रहा है। उस समय आधि-व्याधियाँ भूल जाती हैं और हृदय में अनिर्वचनीय सात्त्विक भावों का उदय हो आता है। इसे आप अत्युक्ति न समझिए। बाबू भगवान्दास के सदृश सरस-हृदय जन, हमें विश्वास है, हमारी इस उक्ति का अवश्य समर्थन करेंगे। सो इन पुराणों में—विशेष करके श्रीमद्भागवत मे—साहित्य-प्रेमियों, काव्य-लोलुपों और रसिक-शिरोमणियों को भी लुभानेवाली बहुत कुछ सामग्री है। इस बात की पुष्टि के लिए, श्रीमद्भागवत के दसवें स्कध के बावनवें अध्याय में वर्णित रुक्मिणी-हरण-संबधिनी कथा के कुछ अंश की कविता का नमूना नीचे दिया जाता है।

विदर्भ-देश में एक राजा था। उसकी राजधानी कुंडिनपुर थी। नाम था उसका भीष्मक। उसके रुक्मी, रुक्मरथ आदि पाँच पुत्र और रुक्मिणी नाम की एक कन्या थी। रुक्मिणी जब विवाह-योग्य हुई तब श्रीकृष्ण के शौर्य, वीर्य और सौंदर्य आदि गुण सुन कर उन पर

वह मुग्ध हो गई और मन ही मन उन्हीं के साथ विवाह करने का निश्चय किया। रुक्मी को छोड़ कर उसके अन्य भाइयों ने भी अपनी बहन के लिए कृष्ण ही को सबसे अधिक उपयुक्त पात्र समझा। परंतु बड़ा भाई रुक्मी कृष्ण-द्वेषी था। वह चेदि-देश के राजा शिशुपाल का पक्षपाती था और शिशुपाल था श्रीकृष्ण का परम शत्रु। अतएव रुक्मी ने अपने पिता और छोटे भाइयों को समझा-बुझा कर शिशुपाल ही के साथ रुक्मिणी के पाणिग्रहण का निश्चय किया। इस निश्चय ने रुक्मिणी को विकल कर दिया। उसने इस विघ्न को टालने का और कोई उपाय न देख, एक ब्राह्मण को चुपचाप द्वारका भेजा। उसके द्वारा उसने श्रीकृष्ण को सब बातों की सूचना दी और प्रार्थना की कि आप ज़बरदस्ती मुझे हर ले जाइए; अन्यथा, शिशुपाल के साथ मेरा विवाह होने से मैं अपने प्राण दे दूँगी।

ब्राह्मण-देवता द्वारका पहुँचे तो श्रीकृष्ण ने उनका बड़ा आदर किया। सिंहासन से उतर कर वे उस ब्राह्मण से सम्मानपूर्वक मिले। आजकल के नरेशों की तरह डटे बैठे ही न रहे। उसके रहने, खाने-पीने और सेवा-शुश्रूषा का उचित प्रबंध करके आपने उसे उसके ठहरने की जगह भेज दिया। जब वह खा-पीकर और विश्राम करके निश्चित हुआ तब आप उसके पास पहुँचे और बोले—

विप्र-वर, कहिए, आप आराम से तो हैं? किसी बात की तकलीफ़ तो नहीं? विदर्भ-देश में आप अपना धर्म्माचरण तो अच्छी तरह कर सकते हैं न? कोई विघ्न-बाधा तो नहीं उपस्थित होती? संतोष का क्या हाल है? महाराज, ब्राह्मण के लिए संतोष तो बहुत ही बड़ी चीज़ है। मुझे संतोषशील ब्राह्मण ही पसंद है। अच्छा, आपके राजा का क्या हाल है? उनकी प्रजा तो सब सुखी है? प्रजा-पालक राजा की क्या बात है। मैं ऐसे ही राजा को राजा समझता हूँ।

श्रीकृष्ण के इन उदार प्रश्नों का यथोचित उत्तर उस ब्राह्मण ने दिया।

ऊपर एक बात लिखनी रह गई। जिस समय श्रीकृष्ण उस ब्राह्मण के आवास में गये, वह सोया हुआ था। सोया न था तो लेटा ज़रूर था। इस कारण आपने धीरे-धीरे उसके पैर दबाना शुरू किया। जब वह जागा अथवा स्वस्थ हुआ तब आपने उससे पूर्वनिर्दिष्ट प्रश्न किये। श्रीकृष्ण की इस निरभिमानिता, इस ब्राह्मण-भक्ति, इस अतिथि-सेवा और इस दीनता-प्रदर्शन की तुलना आजकल के मूर्तिमान् अभिमान धनिकों और नृपश्रेष्ठों से कीजिए। पर अब न तो वैसे नरेश ही हैं और न वैसे तपोनिष्ठ तथा साक्षर ब्राह्मण ही हैं। तथापि, इस समय, गुरुता में अपराध का पल्ला महीमहेंद्रों ही की ओर अधिक झुकता है; क्योंकि, किसी-किसी राजा की गद्दी के सिंहद्वार पर, पांडित्यपूर्ण पंडितों की भी कभी-कभी वही दशा होती है जो दशा किसी राजा की राजधानी के फाटक पर प्रसिद्ध काश्मीरी पंडित बिल्हण की हुई थी। अस्तु।

कुशल-प्रश्न हो चुकने पर श्रीकृष्ण ने उस ब्राह्मण से उतनी दूर आने का कारण पूछा। उत्तर में उसने रुक्मिणी के विवाह की सारी बातें कह सुनाईं। साथ ही रुक्मिणी ने जो संदेश कहा था अथवा जो गुप्त पत्र दिया था उसका भी प्रकटीकरण उसने किया। पुराण-कार ने रुक्मिणी के इस पत्र या सदेश का जो आशय, अपनी रस-वती और रुचिर रचना के भीतर रख कर, व्यक्त किया है वह नीचे दिया जाता है। श्रीकृष्ण को संबोधन करके रुक्मिणी कहती है—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥ ३७॥

हे अच्युत! आपके गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। वे इतने लोकातिशायी हैं कि सुननेवालों के कर्ण-विवरों की राह भीतर घुस

कर शरीर के सभी तापों का शमन कर देते हैं। आपके गुणों का तो यह हाल है। रूप का हाल मैं क्या बताऊँ। वह तो और भी अप्रतिम है; क्योंकि सौंदर्य्य में आपकी समता करनेवाला इस लोक में और कोई नहीं। नेत्रधारियों के नेत्रों को यदि आपका रूप देखने को मिल जाय तो मानों उन्हें सब कुछ मिल गया—उन्हे समस्त अर्थों की प्राप्ति हो गई; वे सफल हो गये। आपके गुण-समुच्चय और रूप-राशि का वर्णन, दूसरों के मुख से, सुन कर मैं आप पर मुग्ध हो गई हूँ—मेरा निर्लज्ज मन आप पर आसक्त हो गया है। निर्लज्ज इसलिए कि कुलकन्यकाओं को अपने मन की जो बात किसी पर भी प्रकट न करनी चाहिए उसी को मैं इस तरह आप पर प्रकट कर रही हूँ। पर करूँ क्या? निर्लज्जता न करने से तो मेरा सर्व्वनाश उपस्थित होने के सभी सामान हो चुके हैं।

हे नरशार्दूल! एक बात और भी तो है। उस पर भी आप विचार करने की कृपा अवश्य कीजिए। वह यह—

> का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
> विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
> धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
> काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम्॥ ३८॥

विवाह-काल उपस्थित होने पर, उपवर कन्यायें उसी पुरुष-रत्न का वरण करती हैं जो कुल में, शील में, रूप में, विद्या और कला-कौशल मे, वय में, धन-संपत्ति में और तेजस्विता में अपने ही सदृश हो। मुकुंद, अब आप ही कहिए। ये सब गुण आपमें हैं या नहीं और इस भूलोक में सबसे अधिक मनोऽभिराम आप ही हैं या नहीं? इस दशा में यदि मैं आप पर अनुरक्त हो गई और निर्लज्ज होकर अपनी अनुरक्ति आप पर प्रकट कर दी तो क्या यह कोई अभाव-नीय बात हो गई? ख़ैर, मुझे आप निर्लज्ज ही समझिए। पर क्या

इस लोक में कोई इतनी धैर्य्यधारिणी और इतनी उदारहृदया भी कुलकन्या है जो आपके सदृश सर्वगुण-संपन्न नर-रत्न को अपना हृदय-दैवत बनाने में आना-कानी कर सके ? मुझे तो ऐसी एक भी राज-कन्या कहीं नज़र नहीं आती। मैं उपवर हूँ; मैं वयस्क हूँ, मैं अपना हानि-लाभ स्वयं समझ सकती हूँ। अतएव, पेच में पड़ने पर, यदि मैं आप पर अपने मन की बात व्यक्त करूँ तो मेरी यह धृष्टता या निर्लज्जता क्या क्षमायोग्य नहीं ?

तन्मे भवान् खलु वृत पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥ ३९ ॥

इसी से, सब बातों का विचार करके और ख़ूब आगा-पीछा सोच कर, मैंने आपको पति-रूप में वरण कर लिया है। यहाँ तक कि मैंने तो अपनी आत्मा भी आपको अर्पित कर दी है। आप विभु हैं—आप सर्व-समर्थ और सर्व-व्यापी हैं। अतएव अब आप मुझे अपनी ही पत्नी समझ कर जो उचित जान पड़े कीजिए। पर मेरी एक प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दीजिए। वह यह कि मैं वीर-भोग्या हूँ—मैं अपने को वीरों ही का प्राप्य भाग समझती हूँ; कायरों और दुर्बलों का नहीं। अतएव ऐसा न हो कि, सर्वथा आप ही के भोग-योग्य मुझे, शेर के शिकार को गीदड़ के सदृश, दुर्वृत्त शिशुपाल कहीं उठा ले जाय। यदि आपके आने में विलंब हुआ तो ऐसी शोचनीय दुर्घटना का हो जाना बहुत संभव है। इससे मैं पहले ही से आपको सचेत किये देती हूँ। अब मेरी लज्जा आपही के हाथ है। जल्दी कीजिए।

भगवान्, आप कहाँ विराज रहे हो ? आपसे भी मेरी एक प्रार्थना है—

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान् परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥ ४० ॥

मैंने पूर्वजन्म या जन्मांतर में कुवे और जलाशय खुदा कर, यज्ञ और अग्निहोत्र आदि करके, दान-दक्षिणा देकर, तीर्थ-यात्रा और व्रतादिकों का अनुष्ठान करके यदि कुछ भी पुण्य-संपादन किया हो, तथा देव, ब्राह्मण और गुरु की पूजा करके इन सभी सत्कर्मों के द्वारा परात्पर परमात्मा को कुछ भी संतुष्ट किया हो, तो वे प्रसन्न होकर मुझे यही वर दें कि गदाग्रज भगवान् कृष्ण ही आकर मेरा पाणिग्रहण करें; शिशुपाल आदि अन्य नरेशों में से कोई भी मेरा स्पर्श न कर सके!

श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्य्यशुल्काम् ॥ ४१ ॥

मेरा यह संदेश सुन कर, संभव है, आपके मन में इस शंका की समुद्भावना हो कि मेरे कुटुंबियों ने जब मुझे शिशुपाल को दे डालने की प्रतिज्ञा कर ली है तब मेरी प्राप्ति के लिए आपका आना व्यर्थ है। महाराज, इस प्रकार की शंका आपको न करनी चाहिए। पिता और भ्राता ने मेरे शरीर को दे डालने का निश्चय ज़रूर कर लिया है; पर मेरे मन को दे डालने का नहीं। और मन से तो मैं आप ही को अपना पति मान चुकी हूँ। फिर एक बात और भी तो है। मैं क्षत्रियकुलोत्पन्न कन्या हूँ। मुझे पाने का अधिकारी वही हो सकता है जो बल, वीर्य और पराक्रम में औरों से अधिक हो; क्योंकि मैं तो वीर्य्यशुल्का हूँ। मेरा शुल्क—मेरा मूल्य—केवल बल और पराक्रम है। अतएव आप एक काम

कीजिए। विवाह के पहले ही आप चुपचाप यहाँ आ जाइए। चुपचाप इसलिए कि समय पर कहीं कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय और आपके आने की बात विदित हो जाने पर मुझ तक आप न पहुँच पावें। अपने साथ आप (अपनी सेना और) सेनापतियों को भी लेते आवें। इस तरह तैयार होकर आप यहाँ उपस्थित हो जायँ और जरासंध, शिशुपाल आदि का दर्प चूर्ण करके, राक्षसी विधि से बलपूर्वक मेरा पाणिग्रहण कर लें। इसमें संकोच के लिए जगह नहीं। भगवान् मनु ने राक्षस-विवाह की विधि को भी शास्त्र-सम्मत माना है। आप अजित हैं ही; आज तक आप कभी किसी से नहीं हारे। अतएव विघ्नरूप विपक्षियों को मार भगाना भी आपके लिए कोई बड़ी बात नहीं।

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्॥ ४२॥

आपके मन में एक और भी शंका का उदय हो सकता है। वह यह कि मैं अंतःपुर ही में रहती हूँ; कभी बाहर नहीं निकलती। मुझे प्राप्त कर सकने के पहले युद्ध में आपको मेरे बंधु-बांधवों का नाश करना पड़ेगा; तब कहीं आप मुझ तक पहुँच सकेंगे। परंतु यह कुछ न होगा। इसका उपाय मैंने पहले ही से सोच रक्खा है। मेरे यहाँ यह रीति है कि विवाह के एक दिन पूर्व, अपनी कुल-देवी गिरिजा के पूजन के लिए, नववधू को महलों से निकल कर बाहर जाना पड़ता है। उस समय ख़ूब भीड़-भाड़ होती है; बड़े समारोह से यह यात्रोत्सव किया जाता है। अतएव उसी मौक़े पर उपस्थित होकर आप अपनी कार्य्य-सिद्धि कर ले जाइए।

अब आप मेरी अंतिम प्रार्थना सुन लीजिए—

यस्याङ्घ्रि (यत्पाद) पङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ॥ ४३ ॥

हे कमललोचन ! आपको मैं देवाधिदेव और जगन्नियंता समझती हूँ। उमापति शंकर के सदृश बड़े से बड़े देवता भी, अपने अज्ञान के नाश के निमित्त, आपके पाद-पंकजों की धूल से स्नान करने की—उसे अपने मस्तक पर चढ़ाने की—सदा ही कामना करते हैं। ऐसे सर्वेश्वर आप यदि मुझ पर प्रसाद न करेंगे—यदि आप मेरा अभिलषित पूर्ण न करेंगे—तो आप, निश्चय जानिए, मैं अपने प्राण दे दूँगी। मैं आपकी प्राप्ति के लिए आत्महत्या न करूँगी। आत्महत्या करना तो घोर पातक है। मैं निराहार और निर्जल व्रतादि का अनुष्ठान करके अपने शरीर को छोड़ दूँगी और जब तक आप न मिलेंगे, जन्मांतरों में भी, मैं अपने प्राण इसी तरह देती चली जाऊँगी। सौ पचास जन्मों तक, अपने लिए मुझे बार-बार मरते देख, कभी न कभी तो आपको मुझ पर दया आवेहीगी। इत्यलम्।

करुणोक्तियों से भरा हुआ भगवती रुक्मिणी का यह क्षत्रिय-कन्यकोचित संदेश सुनकर भगवान् कृष्ण का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने उसकी प्रार्थना मान कर तदनुकूल कार्य किया और उसे इस तरह हर ले गये जिस तरह गरजता हुआ शेर गीदड़ों के बीच से अपना भाग हर ले जाता है—"शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः"।

आगे के त्रेपनवें अध्याय में महाप्राज्ञ पुराणकार ने रुक्मिणी के रूप आदि का वर्णन किया है। वह वर्णन उस समय का है जिस समय वैदर्भी अपनी सखियों, सौभाग्यवती स्त्रियों और प्रहरियों आदि से आवृत होकर, नगर के बाहर, अंबिकार्चन के लिये गई है। पुराण-निर्म्माणकर्ता व्यासजी ने चैद्य आदि समागत नरेशों

की दुरवस्था और कृष्ण भगवान् के द्वारा रुक्मिणी के हरण किये जाने का भी वर्णन वहीं पर किया है। उस स्थल की रचना भी बड़ी ही हृदय-हारिणी, कवित्वपूर्ण और रसानुप्राणित है। वह इतनी सुंदर है कि उसकी सरसता को अक्षुण्ण रख कर, हिंदी में उसका ठीक-ठीक गद्यात्मक भी अनुवाद कर सकना हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। अतएव हम उन श्लोकों को नीचे ज्यों का त्यों नकल करके ही सतोष करेंगे—

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं
सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम्॥ ५१॥
शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं
शिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना॥ ५२॥
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः। ५२½
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्॥ ५३॥
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।
उत्सार्य्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा॥ ५४॥
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।

रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ॥ ५५ ॥
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ५५½ ।
तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षय
परे जरासन्धवशा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मान् यश आत्तधन्विनां
गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥ ५६ ॥

सारांश यह कि बड़े-बड़े वीरों को भी मोह के महासागर में निमग्न कर देनेवाली, देवमाया के समान, उस परमरूप-लावण्यवती कन्या को देख कर वहाँ पर एकत्र राजवर्ग के होशो-हवास जाते रहे। उनके हाथ से अस्त्र-शस्त्र छूट पड़े और वे स्वयं भी अपने-अपने रथ, हाथी या घोड़े से लुढ़क कर ज़मीन पर गिर गये। इधर अंबिकार्चन करके लौटी हुई रुक्मिणी ने यह जानना चाहा कि देखूँ, कृष्ण भगवान् मेरी प्रार्थना को सफल करने के लिए, यहाँ आये हैं या नहीं। अतएव हाथ से अपनी अलकें हटा कर, बड़े ही हाव-भावपूर्वक, उसने अपांग-दृष्टि से देखा तो उसे अपने इष्टदेव के दर्शन हो गये और साथ ही पृथ्वी पर अचेत पड़े हुए वे राजन्य वीर भी उसे दिखाई दिये। वह दृश्य देखते ही उसने रथ पर सवार हो जाने की इच्छा, मन ही मन, प्रकट की। श्रीकृष्णजी इस बात को तुरत ही ताड़ गये। अतएव उसे उठा कर उन्होंने अपने गरुडध्वज रथ पर बिठा लिया और वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

होश मे आने पर जरासंध और शिशुपाल के पक्षपाती नरेश आक्रोश करने लगे। उन अभिमानियों का सारा अभिमान चूर्ण हो गया। उनका यश ख़ाक में मिल गया। पराभव ही उनके हाथ लगा। उन्होंने कहा—हमको धिक्कार! बड़े धनुषधारी होने का दम

मरनेवाले हम लोगों ने इन अहीरों ने हमारा यश वैसे ही छीन लिया जैसे सिंहों का यश हिरन छीन लेते हैं। यह तो बड़े ही आश्चर्य और बड़ी ही लज्जा की बात हुई!

श्रीमद्भागवत के आध्यात्मिक स्थलों का अनुवाद पद्य में ठीक-ठीक कर देना तो कठिन है ही। अन्यान्य अंशों का भी सरस और भाव-मूलक अनुवाद कर सकना सहज नहीं। अस्तु। जब तक कोई सौभाग्य-शाली कवि इस ग्रंथ का अच्छा अनुवाद करके हिंदी-साहित्य को गौरवान्वित न करे तब तक यदि कोई महाशय इसके चुने हुए रुचिर और रमणीय स्थलों ही का पद्यात्मक अनुवाद करने की कृपा करे तो भागवत के भक्तों और साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार हो। "द्रौपदी-हरण" यदि अनुवाद-योग्य समझा जाय तो इसी से कवि-जन अपनी कवित्वशक्ति के उड्डान की परीक्षा का आरंभ कर सकते हैं।

अगस्त, १९२२

विश्वगुणादर्श

कुर्वीतोपकृति जनस्य समये कस्यापि नापक्रियाम् ।

कुछ लोगों का ख़याल है कि संस्कृत-भाषा के ग्रंथ-साहित्य में समालोचना का अभाव है । यह ख़याल ठीक नहीं । साद्यंत आलोचनात्मक ग्रंथ बहुत नहीं हैं, इसमें संदेह नहीं । पर संस्कृत-साहित्य में समालोचनाओं का अत्यंताभाव भी नहीं । दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र और व्याकरणशास्त्र के अनेक ग्रंथों में, बीच-बीच, आलोचनायें हैं । उनमें ग्रंथकारों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों और आचार्यों के सिद्धांतों और मतों की ख़ूब आलोचना की है । इस तरह की आलोचनायें कहीं-कहीं तो सौम्य भाषा मे हैं, कहीं-कहीं उनमें कटुता भी है, और कहीं-कहीं तो आलोच्य सम्मतियों के दाताओं का उपहास तक किया गया है । रसगंगाधर के कर्ता जगन्नाथराय ने तो अपने प्रतिपक्षी अप्पय-दीक्षित की बडी ही छीछालेदर की है । तथापि ऐसे उदाहरण बहुत नही जिनमे औरों की आलोचना करने में सदाचार की सीमा का उल्लंघन किया गया हो ।

दूसरों की कृति को यदि कोई, दोष ढूंढ़ने ही की दृष्टि से, देखे और उसका अध्ययन करे तो उसमें उसे अनेक दोष या दोषाभास मिलने की संभावना रहती है । दोषान्वेषी जब राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी की कृति का निरीक्षण करता है तब उसकी सदसद्विवेक-बुद्धि पर परदा पड जाता है । उस दशा मे वह समालोचना का अधिकारो नहीं रह जाता । पर उसे उस काम से रोक ही कौन सकता है ? फल यह होता है कि अन्य की दृष्टि में जो बातें दोषों में परिगणित नहीं हो सकती उन्हे भी वह, अपने राग-

द्वेषमूलक काँटे से तौल कर, दोषों ही मे गिनने की चेष्टा करता है। समालोचना करना बुरा नहीं। परंतु राग-द्वेष और प्रतिहिंसा की प्रेरणा से जो समालोचना की जाती है वह बुरी है। ऐसी समालोचना कभी न्यायसंगत और पक्षपातहीन नहीं हो सकती। अच्छे बुरे की पहचान करना बुद्धि का काम है। पर ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिहिंसा के कारण बुद्धि विकारग्रस्त हो जाती है। अतएव वह अपना स्वाभाविक काम ठीक-ठीक नही कर सकती। जिसकी बुद्धि तीव्र है—जिसकी कल्पना-शक्ति प्रखर है—वह निर्दोषों और बहुगुण-संपन्नों में भी सैकडों दोष दिखाने का अभिनय कर सकता है। सूर्य्य नियति के अधीन है। अस्तोदय उसका काम ही है। पर दोषदर्शी उसके इस काम को रागांध्य-मूलक बता सकता है। वह कह सकता है—

"रागान्ध्यमेति भगवानरविन्दबन्धुः"

वह यह तर्क कर सकता है कि राग से सूर्य अंधा हो गया है। इसी से तो वह प्रतिदिन, बार-बार, उसी राह से आता जाता है; उसकी यात्रा कभी ख़तम ही नहीं होती; अंधे की तरह वह उसी लौट-फेर में लगा रहता है; उसी राह जाता है और कुछ दूर जाकर फिर उसी से लौट आता है। बात यह है कि दोष देखनेवाली आँख ही जुदा होती है। उसके अस्तित्व मे गुणी के गुण नही दिखाई देते, प्रत्युत उसके गुण भी दोष ही बन जाते हैं। और दोष? वे तो हज़ार गुना बड़े होकर दिखाई देने लगते हैं।

आप इन उक्तियों को निराधार या असार न समझिए। हम आपका परिचय एक ऐसी पुस्तक से कराने जाते हैं जिसमे आदि से लेकर अंत तक ऐसे सैकड़ों दोषों की उद्भावना की गई है जिन्हें दुनिया दोष ही नही समझती। और वह पुस्तक है किस भाषा में, आप जानते हैं? वह है उसी संस्कृत-भाषा मे जिसमे बहुत लोग

समालोचना-ग्रंथों का अभाव समझते हैं ! उसका नाम है—विश्वगुणादर्श।

विश्वगुणादर्श के कर्ता का नाम है वेंकटाध्वरी। वह मदरास-प्रांत के कांचीपुर का रहनेवाला था। नीलकंठचंपू के कर्ता नीलकंठ दीक्षित का वह सम-सामयिक था। दीक्षितजी ने अपना चंपू कलि के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा था। अतएव वेंकटाध्वरी को हुए कोई पौने तीन सौ वर्ष से भी अधिक समय हो गया। उस समय मदरास में फरासीसियों और पोर्चुगीज़ों का आगमन हो गया था। क्योंकि उनके गुण-दोषों का उल्लेख विश्वगुणादर्श में है।

कर्नाटक के राजा कृष्णराय के गुरु का नाम था ताताचार्य्य या सातार्य्य। वे बड़े यशस्वी और बड़े महात्मा थे। उन्होंने यज्ञ भी किये थे। कांचीमंडल के भूषण माने जाते थे। उनके भानजे का नाम था अप्पय। उन्होंने भी वाजपेय, पौंडरीक आदि यज्ञ किये थे और बड़े पंडित थे। अप्पय के पुत्र का नाम था रघुनाथ दीक्षित। दीक्षितजी बड़े गुणवान् थे और कवि भी थे। वेंकटाध्वरी इन्हीं रघुनाथ दीक्षित के पुत्र थे। वे तर्क, वेदांत, तंत्र और व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता थे, और कवि तो थे ही। उनकी माता का नाम सीतावा था। ये सब बातें वेंकटाध्वरी ने ख़ुद ही लिखी हैं। यथा—

> काञ्चीमण्डलमण्डनस्य मखिनः कर्णाटभूभृद्गुरो-
> स्तातार्यस्य दिगन्तकान्तयशसो यं भागिनेयं विदुः।
> अस्तोकाध्वरकर्तुरप्पयगुरोरस्यैव विद्वन्मणेः
> पुत्रः श्रीरघुनाथदीक्षितकविः पूर्णो गुणैरेधते ॥
> तत्सुतस्तर्क-वेदान्त-तन्त्र-व्याकृतिचिन्तकः।
> व्यक्तं विश्वगुणादर्शं विधत्ते वेङ्कटाध्वरी ॥

यह पुस्तक चंपू है। इसमें गद्य भी है, पद्य भी। गद्य यों ही नाम मात्र को है। पद्यांश ही अधिक है। इसके नाम से यद्यपि सूचित

होता है कि इसमें विश्व के गुणों ही का आदर्श है। पर इसमें दोषों की भी अवतारणा की गई है। जिसके दोष दिखाये गये हैं उसके गुण भी दिखाये गये हैं। यहाँ तक कि राम-कृष्ण और परमात्मा को भी कवि ने नहीं छोड़ा। जिनको किसी की कृति में दोष ही दोष देख पड़ते हैं अथवा जो किसी के गुणों के उल्लेख की ज़रूरत ही नहीं समझते उन्हे यह जान कर संतुष्ट होना चाहिए कि इस विषय में वे अकेले नहीं। उनके साथी भी हैं और ऐसे साथी जो परमेश्वर पर भी दोषारोपण करने का हौसला रखते हैं।

रामानुजाचार्य्य को हुए कोई ९०० वर्ष हुए। उन्होंने दक्षिण में वैष्णव-मत की स्थापना की। उसका खूब प्रचार हुआ। पर कालांतर में बहुत से लोग उस मत के विरोधी हो गये। वे श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित वैदिक मार्ग ही को अनुसरण-योग्य समझने लगे। इन लोगों ने रामानुज-पंथियों की निंदा करने के लिए कमर कस ली और जहाँ तक उनसे हो सका उन पर और उनके देवताओं पर, मौका मिलने पर, बराबर वाग्बाण बरसाते रहे। वेंकटाध्वरी इसी पक्ष के अर्थात् वैदिक मार्गावलंबी थे। किसी-किसी का अनुमान है कि इसी से उन्होने देवी-देवताओं तक की निंदा कर डाली है। नहीं मालूम इस अनुमान मे कहाँ तक सत्यता है; कुछ है भी या बिलकुल नहीं। क्योंकि स्वयं वेंकटाध्वरि ने, अपनी प्रस्तुत पुस्तक में, इस विषय में, जो कुछ लिखा है वह यह है—

> दार्ढ्याय गुणसमृद्धेर्दूषणभणितिः समस्तवस्तूनाम्
>
> अस्माकमुपनिबद्धा सिद्धान्तस्येव पूर्वपक्षोक्तिः

अर्थात् मेरी दूषणोक्तियों को आप सिद्धांत का पूर्व-पक्ष समझिए। उत्तर पक्ष, अर्थात् जवाब, मे मैंने जो गुणोक्तियाँ कही हैं उन्हीं को सिद्धांत मानना चाहिए। मतलब यह कि दोष दिखाने से गुण अधिक खिल उठते हैं। निंबौरी का स्वाद ले चुकने पर शर्करा के मिठास का

अंदाज़ा और भी अच्छी तरह होता है। यह सब सही हो सकता है; परंतु निंदा सुन कर भी हृदय को विकृत न होने देने का सामर्थ्य मानवी स्वभाव के प्रतिकूल सा है। स्वयं वेंकटाध्वरी भी अपनी निंदा और अपनी कृति के दोष सुनने को तैयार नहीं। वे कहते हैं—

प्रकाशदोषप्रचुरे मदीये ग्रन्थेऽप्यमुष्मिन् करुणानुबन्धात्;
प्रसादवन्तो न कृशानवन्तु परन्तु विश्वावसवन्तु सन्तः।

सज्जनो, मेरे इस ग्रंथ में सैकडों-हज़ारों दोष हैं। परंतु कृपा करके, उदारतापूर्वक, उन्हे दिखाने का श्रम न उठाइएगा। हाँ यदि कुछ गुण देख पडें तो उनका उल्लेख ख़ुशी से कीजिएगा। दोष दिखानेवाले, मेरी कल्पना के पुत्र कृशानु, का अनुकरण न कीजिएगा; अनुकरण कीजिएगा गुणदर्शी विश्वावसु का। सुना आपने!

किंवदंती है कि निर्दोषों में भी दोष कल्पना करने से वेंकटाध्वरी अंधे हो गये। अब क्या हो? राम और कृष्ण, गंगा और गोविंद के दिखाओ दोष! हज़ारों ओषधियाँ करने से भी उन्हें दृष्टि-लाभ न हुआ। तब उन्होंने, इलाज करना छोड़ कर, लक्ष्मीजी की स्तुति में मन लगाया। उन्होंने एक सहस्र श्लोकों से इस स्तुति की पूर्ति की और नाम रक्खा—लक्ष्मीसहस्र। इस ग्रंथ में श्लेष, यमक और अनुप्रास का अद्भुत समावेश है। परंतु तारीफ यह है कि कविता विशेष क्लिष्ट और नीरस नहीं होने पाई। उसके अनेक स्थल तो बड़े ही प्रासादिक और सरस हैं। यत्र-तत्र ऐसी करुणोक्तियाँ हैं कि उनके पाठ के समय आँखों से आँसू निकल आते हैं। परंतु किसकी आँखों से? सहृदयों ही की, औरों की आँखों से नहीं। अस्तु। लक्ष्मीजी के प्रसाद से वेंकटाध्वरी फिर देखने लगे। उनको उनकी दृष्टि वापिस मिली। उनका कुसूर माफ़ कर दिया गया।

इस पुस्तक की एक विशद टीका—नहीं, व्याख्यान—भी है। वह भी संस्कृत मे है। बहुत अच्छा है। कौशिक-गोत्रीय "विद्वच्चूडा-

मणि" यज्ञेश्वर पंडित के पुत्र मधुरसुब्बा शास्त्री ने उसकी रचना की है। यह बात व्याख्यान के समापनवाक्यों ही से प्रकट है। इससे अधिक शास्त्रीजी के विषय मे और कुछ भी ज्ञात नही।

विश्वगुणादर्श की जो पुस्तक हमारे सामने है उसे प्रकाशित हुए कोई २९ वर्ष हो चुके। उसका संपादन बबई-विश्वविद्यालय के "फेलो" और बंबई हाईकोर्ट के वकील श्रीयुत श्यामराव विट्ठल ने, कई पुरानी पोथियों का मिलान करके, किया है। जगह-जगह पर आपने अपनी तरफ़ से "नोट्स" भी दिये है। आरंभ मे उन्होंने, अँगरेज़ी भाषा मे, एक लंबा उपोद्घात भी लिखा है। उसमे और-और बातों के सिवा इस पुस्तक का सारांश भी है।

वेंकटाध्वरि के संदर्भ का अब सक्षिप्त सार सुन लीजिए।

दो गंधर्व थे। एक का नाम था कृशानु, दूसरे का विश्वावसु। अपने नामों के अनुकूल पहला दोषदर्शी था, दूसरा गुणदर्शी। उन्होंने कहा, चलो दुनिया की सैर कर आवें। वे विमान अर्थात् आज-कल के हवाई जहाज़ पर सवार होकर निकले तो पहले-पहल उन्हे सूर्य दिखाई दिया। इस पर विश्वावसु ने उसे छांदसज्योतिष आदि कहकर बडे आदर से प्रणाम किया। उसके इस व्यापार को देख कर कृशानु बोल उठा—

अरे तू यह क्या कर रहा है? "सकलभुवनसंशोषणकारिणं तपन-मपि किं नमनकर्म्मी करोपि?" अर्थात् समस्त भुवनों का संशोषण करनेवाले इस तपन (सूर्य) को भी प्रणाम! यह प्रणाम का पात्र नहीं। देख—

पान्थान् दीनानहह वसुमानातपान्धान् विधत्ते
शुष्कां पृथ्वीं ग्चयतितरां शोषयत्योषधीश्च।
कासाराणां हरति विभवं क्रान्तिशान्तिप्रदानां
क्रूरस्यैवं गुणलवकथा का स्वतो भास्वतोऽस्य॥

दीन-दुखिया पथिकों को यह अपने तेज या ताप से अंधा कर देता है; पृथ्वी को सुख देता है; ओषधियों को जला देता है; क्रांतिहारी जलाशयों का वैभव हर लेता है ! ऐसे स्वभावसिद्ध क्रूर और निष्ठुर सूर्य्य में तो गुणों का लेश भी ढूँढ़ने से न मिलेगा। ऐसे उत्कट अत्याचारी को प्रणाम !

वेंकटाध्वरी की कविता और प्रतिभा का यह पहला नमूना लीजिए। इस तरह के जो नमूने दिये जायँगे प्रायः दोषदर्शक ही दिये जायँगे। क्योंकि पुस्तक में समालोचित विषयों के गुण तो बहुधा सभी सुज्ञों के संवेद्य हैं। नवीनता दोषोक्तियों ही में अधिक है। वही अधिक कौतूहलवर्धक भी हैं।

कमलों को विकसित करना, अंधकार का नाश करना, जल बरसाना आदि सूर्य के कोडियों गुण गिनाकर विश्वावसु ने अपने साथी कृशानु को चुप कर दिया और सूर्य्य में दोषोद्भावना करने के कारण उसे कड़ी फटकार भी बताई।

प्रवासियों के कुछ दूर आगे बढ़ने पर सूर्य्य का बिंब भी आकाश में कुछ ऊँचा उठ आया। उसे देखकर विश्वावसु को शायद आदित्य-हृदय का यह श्लोक याद आ गया—

ध्येय. सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः।

अतएव उसने सूर्यमंडल के बीच में बैठे हुए नारायण की स्तुति और नमस्कृति आरंभ की। तब फिर कृशानु से न रहा गया। वह गरज उठा। बोला, क्या यह निर्घृण नारायण भी तेरे लिए स्तुत्य है ? इस बावले का तो तुझे नाम भी न लेना चाहिए। इसकी लीला तू क्या जाने ? सुन—

स्वेनादौ निखिलं जगद्विरचितं स्वेनैव संरक्षितं
भिन्दन्हन्त मुकुन्द एष विधृतानन्दो हि निन्दोचितः।
उत्पाद्य स्वयमुत्तमान् फलतरूनुल्लास्य चारूदकै-
रुन्मत्तोऽपि किमुच्छिनत्ति जगति छित्वापि किं नन्दति ?

यह ख़ुद ही संसार की सृष्टि करता है और ख़ुद ही उसकी रक्षा भी करता है। परंतु पीछे, उसी का नाश भी ख़ुद ही कर डालता है। ऐसा अनुचित व्यापार करके यह अप्रसन्न होने के बदले उलटा प्रसन्न होता है। ऐसा पुरुष भला निंदा का पात्र है या प्रशंसा का ? फलवान् वृक्षों का उत्पादन करके उन्हे ख़ूब सींच कर जो बडा करता है वह क्या उन्हें अपने ही हाथ से काट भी डालता है और काट कर क्या वह ख़ुशी भी मनाता है ? पागल भी तो ऐसा निंद्य काम नहीं करता।

तेरा यह नारायण तो अन्यायियों और निष्ठुरों का शिरोमणि है। लौकिक नरेश यदि प्रचड प्रकृति के हुए तो वे भी उन्ही को दंड देते हैं जो उनकी आज्ञाओं का उल्लघन करते हैं। परंतु यह नारायण नामधारी अतर्यामी पुरुष जीवधारियों को ख़ुद ही कुपथ में प्रवृत्त करके फिर उन्हें नरककुंड में फेका करता है। इसकी निष्ठुरता और क्रूरता का भी कुछ ठिकाना है !

विश्वावसु ने "शान्त पापं" कहकर मुँह पर उँगली रक्खी और भगवान् के बहुत से गुणो का गान किया। वे बड़े दयालु हैं। किसी के लेने देने मे नही। मनुष्य को उन्होने बुद्धि दी है—भले-बुरे का ज्ञान दिया है। वे क्यों बुरे काम करते हैं ? करने पर यदि उन्हे नरक-यातना भोगनी पड़े तो भगवान् का क्या अपराध ?

पृथ्वी की तरफ़ इशारा करके विश्वावसु ने कहा, देखो यह धरा पुरुषार्थ-साधन की जगह है। यज्ञानुष्ठान और दान-धर्म और पूजन-पाठ करके यहाँ के निवासी चतुर्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं। कृशानु ने

उत्तर दिया, देवलोक के रहनेवाले तुझे भूमंडल की प्रशंसा करते शर्म भी नहीं आती। नाना क्लेशों और नाना रोगों का आवास जिस भूमि पर हो उसी की प्रशंसा ! परस्पर बहुत कुछ खंडन-मंडन हो चुकने पर विश्वावसु ने कहा, चलो ख़ुद ही भूमंडल की सैर करके देखें कि किसका ख़याल सच्चा है। अरे यार, इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े पवित्र तीर्थ, देवस्थान और विद्वान् महात्मा हैं। इस पर कृशानु राज़ी हो गया। उन्होंने अपने वायुयान या विमान को पृथ्वी की तरफ़ मोड़ दिया।

पहले दोनों बदरिकाश्रम पहुँचे, फिर साकेत (अयोध्या)। पिछले स्थान पर कृशानु ने रामचंद्रजी की बेहद ख़बर ली। उन पर ढेरों दोषों और कलंकों की आरोपणा कर डाली। विश्वावसु ने एक लंबा लेक्चर देकर उन सबका निरसन किया और रघुकुल-तिलक राम की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रक्खी।

वहाँ से चल कर यह गंधर्वयुग्म काशी पहुँचा। वाराणसी में गंगाजी के दर्शन हुए। विश्वावसु ने विनम्रमस्तक होकर उनके गुणों की गरिमा का वर्णन किया। उसे सुन कर कृशानु ने कहा—हज़रत, क्या आप भागीरथी नदी के पानी को भी स्तुतियोग्य समझते है ?

उसका हाल मुझसे सुन लीजिए—

येषा जनिश्चरणतस्तु हिरण्यहर्तु-
दोषाकरेण गुरुदारविटेन मौलौ।
ब्रह्मोत्तमाङ्गभिद एव सहस्थितिश्च
ख्यातो लयो जलनिधौ किल गाङ्गवाराम्

खेद है, इस श्लोक के श्लेष-चमत्कार से संस्कृतज्ञ ही पर्य्याप्त आनंद प्राप्त कर सकते है। यो तो इसके अर्थ का सबध गंगा के उस जल-समुदाय से है जो हिरण्य (कशिपु) के हर्त्ता विष्णु के पैरों से निकला है, जो ब्रह्म-कपालधारी शंकर के शीर्ष पर दोषाकर (चंद्रमा)

के साथ रहता है और जो जलनिधि (समुद्र) में जाकर गिरता है। पर कृशानु की झोंक एक और ही अर्थ की ओर है। हिरण्यहर्ता को वह सुवर्णचोर कह रहा है, ब्रह्मोत्तमाङ्गभिद् को वह ब्राह्मण का सिर काटनेवाला बता रहा है, बृहस्पति की पत्नी को गुरुपत्नी मान कर उसके विट, चंद्रमा, को वह दोषाकर (दोषों की खान) मान रहा है और जलनिधि को जडों, मूढों या मद्यपों का समुदाय कल्पित कर रहा है। अर्थात् वह गंगा महरानी का संपर्क महापातकी चोरों, व्यभिचारियो, हत्यारों और शराबियो से सूचित कर रहा है !

ख़ैर, विश्वावसु ने डाट-डपट कर कृशानु को गंगाजी की प्रकृत महिमा बताई और काशी का माहात्म्य-गान शुरू कर दिया। यहाँ के लोग बडे धनवान् हैं, मकान आसमान से बाते करते हैं; यहाँ जो लोग मरते हैं उन्हे शिव-सामीप्य प्राप्त होता है—वे मुक्त हो जाते हैं, इत्यादि।

कृशानु बोला—हाँ हाँ, क्यों नही। आप तो भोलानाथ ही की तरह भोले हैं। ज़रा यहाँवालों का हाल मुझसे सुन लीजिए—

इन्होंने शास्त्रचर्चा छोड दी है। सब लोग शस्त्रधारी सैनिक हो गये हैं; वे सिपाहगरी करते हैं। शूद्रों के द्वारा लाये गये जल से ख़ुद ही नहीं स्नान करते, देवताओं को भी नहलाते हैं। उसे पीते भी हैं। छुवाछूत का विचार नहीं करते। चांडालों तक के बीच से, रेल-पेल करते हुए, आगे बढ़ जाते है। धोबियों के गधों पर लादे गये वस्त्र पहनते हैं, उन्हे पहन कर बाहर भी निकलते हैं। म्लेच्छों को छूते हैं। छूकर भी स्नान नहीं करते। यहाँ तक कि विना स्नान किये भोजन भी कर लेते हैं। वेदों का एक अक्षर भी नही जानते; ख़ूब शराब पीते है। काम जितने करते हैं, सब श्रुतिस्मृति-विरुद्ध। नीरस इतने हैं कि नव-विवाहिता वधुओं को घर पर छोड कर बरसों बाहर परदेश में घूमा करते हैं। ये लोग पैसे के दास हैं। इस तरह के

दुष्कर्म्म करके ये अपने दोनों लोक बिगाड लेते हैं। यहाँ कोई पढता-लिखता नहीं। यदि शत-सहस्र में कोई एक पढता भी है तो शुष्क तर्क में जीवन नष्ट कर देता है।

ये आक्षेप सुनकर विश्वावसु का कलेजा धड़क उठा। वह बोला—अरे, तेरी इस ब्राह्मण-निंदा को सुन कर मेरा हृदय काँप रहा है—

"कष्टमरे ब्राह्मणनिन्दां श्रृण्वतः कम्पते मे हृदम्"

कृशानु के बताये हुए दोषों को विश्वावसु ने कलिकाल के मत्थे मढ़ कर उनके खंडन की भी चेष्टा की। वह बोला—

इस कलियुग में यदि एक भी बापूदेव शास्त्री, या एक भी शिवकुमार शास्त्री या एक भी बाबू भगवानदास हो तो उसी को बहुत समझना चाहिए। माड़वार की एक छोटी सी तलैया भी बडा काम देती है। कायस्थ, ब्राह्मण और क्षत्रिय पढ़ना-लिखना छोड़ कर यदि तलवार न उठाते तो ये तुरुष्क गौओं, ब्राह्मणों और देवताओं का उच्छेद ही कर डालते। ऐसा होने से ब्राह्मण्य धर्म को तिलांजलि ही देनी पडती।

इस प्रकार कृशानु का समाधान किसी तरह उसने किया। जान पड़ता है, बेचारे वेंकटाध्वरी कभी उत्तरी भारत में नहीं आये। इसी से उन्होंने समझा कि स्पृश्यास्पृश्य का जैसा विचार मदरास में है वैसा ही इस तरफ़ भी होगा। कवि का भूगोलज्ञान भी भ्रमपूर्ण है। क्योंकि काशी के आस-पास के प्रांत छोड कर वह वहाँ से गंधर्वयुग्मों को समुद्र के पास ले पटकता है और वहाँ जगन्नाथपुरी दिखाकर गुजरात पहुँचा देता है। इन स्थानों और प्रांतों के गुण-दोष-वर्णन की चर्चा हम छोडते हैं। सबके उल्लेख के लिये जगह कहाँ?

कहाँ गुजरात और कहाँ यमुना? पर वेंकटाध्वरी ने गुर्जरदेश के दर्शन कराकर गंधर्वों को यमुना-तट पर पहुंचा दिया। वहाँ श्रीकृष्ण की सरस लीलाओं का बडा ही हृदयहारी वर्णन कवि ने किया है।

विश्वावसु ने श्रीकृष्ण को वंदारुजवदन, यदुनंदन और भगवद्‌वतार बताया और कृशानु ने जार-चौर-शिखामणि।

इसके अनंतर उन गंधर्वों का विमान महाराष्ट्र-देश की तरफ़ चला। राह मे अनेक देश, वन, पर्वत, नदी आदि देखकर विश्वावसु भगवान् की महिमा का वर्णन करता है—

कत्योषधीः कति तरून् कति वा महीध्रान्
कत्यम्बुधीन् कति नदीः कति पुंस एतान्।
कत्यङ्गनास्त्वमसृजः कति नाथ देशान्
मन्ये तवैष महिमा नहि माति बुद्धौ॥

महाराष्ट्र-देश में पहुँचने पर विश्वावसु अपनी स्वभावसिद्ध गुणगणनामूलक तान छेड़ देता है—यह देश तो बड़ा ही सुंदर है; अनुपम है; सुरपुर के सदृश है, यहाँ के निवासी गुणागार हैं, समृद्ध भी हैं, अति-थिसेवा करना भी ख़ूब जानते हैं। इस पर कृशानु उसकी दिल्लगी उड़ाता है। वह कहता है—

अरे यार, सत्ययुग और त्रेता की बातें जाने दे; आजकल की कह। अब तो यहाँवालों का यह हाल है कि दिन भर इधर उधर पेट भरने के धंधे में घूमते हैं। शाम को कहीं ये लोग नहाते हैं और नहा कर सध्योपासन तक नहीं करते। इनका काम अब गाँवों का जमाख़र्च रखना-मात्र रह गया है। सस्कृत-भाषा को अर्द्धचंद्र देकर ये अब यवनानी लिपि और भाषा अर्थात् फ़ारसी पढ़ने-लिखने मे मस्त रहते हैं। पेट भरने के लिए ये लोग यवन-नरपतियों की गुलामी करते हैं और वेतन के बदले अपना वपु भी बेच डालते हैं। ये बड़े स्वामिद्रोही भी हैं। झूठे हिसाब लिख-लिख कर ये अपने स्वामियों का धनापहरण करते हैं। बड़े परिताप की बात है कि ऐसे वंचकों को भी लोग पुरस्कार देते हैं। तूने जो यह कहा कि यह देश अनुपम है सो अलबत्ते बहुत ठीक

कहा। क्योंकि यहाँ बहुत थोड़े प्रयत्न से बहुत अधिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है—

वेदव्यासः स न व दश यो वेदवेदाक्षराणि
श्लोक स्त्वेकं परिपठति यः स स्वयं जीव एव।
आपस्तम्बः स किल कलयेत्सम्यगौपासनं यः
कष्टं शिष्टक्षतिकृतिकलौ कार्श्यमृच्छन्ति विद्याः॥

जिसे वेद के नौ दस अक्षर आते हैं वह वेदव्यास बना बैठा है। जिसे एक श्लोक याद है वह कहता है, बृहस्पति मैं ही हूँ। जिसे उपासना-कांड का कुछ भी ज्ञान है वह आपस्तंब को धता बता रहा है। अरे इस कलिकाल ने तो शिष्ट-जनों का क्षय ही कर डाला। विद्यायें, आजकल, दिन पर दिन, दुबली होती जा रही हैं।

विश्वावसु घबरा उठा। वह कृशानु के आक्षेपों का ठीक-ठीक खंडन न कर सका। पर कुछ न कुछ कहने के लिए वह बाध्य था। अतएव उसने अपने पक्ष का समर्थन इस प्रकार किया—

तूने तो बड़े ही कठोर आक्षेप कर डाले। यह महाराष्ट्र-भूमि विद्वानों, सच्चे ब्राह्मणों और वेदविद्याविचक्षणों से एक-दमही ख़ाली नहीं। अब भी अनेक भव्यमूर्ति भूसुर यहाँ ऐसे रहते हैं जो सर्वथा वंद्य हैं। एक भी कुल्हाडी सैकडों विषवृक्षों को काट गिराने में समर्थ होती है। इसी तरह इस कोटि का एक भी सच्चा ब्राह्मण दुष्कृत्य-जनित असंख्य पातकों का प्रक्षालन कर सकता है। यदि इस देश के निवासी शस्त्र धारण करके अपनी जन्म-भूमि की रक्षा न करते तो ये तुरुष्क (मुसलमान) समस्त प्रांत का उच्छेद कर डालते और गो-ब्राह्मणों ही का नहीं, देवताओं और देवमंदिरों का भी कहीं नाम तक न रह जाता।

महाराष्ट्र के आगे वेंकटाध्वरी के परिचित प्रदेश आ गये। अतएव उनके गुण-दोषों का वर्णन उसने बड़े विस्तार के साथ आरंभ कर

दिया। यहाँ तक उसके ग्रंथ का केवल एक चतुर्थांश समाप्त हुआ था। बाकी के तीन-चतुर्थांश उसने दक्षिण के प्रांतों, तीर्थों, नदियों, निवासियों आदि की आलोचना और प्रत्यालोचना में ख़र्च कर दिये है। उसका यह वर्णन ख़ूब सजीव है, विशेष करके दोषांश। उसने छोड़ा किसी को नहीं। अपने विपक्षी रामानुज-संप्रदाय के अनुयायियों पर तो उसने बड़े ही निष्ठुर प्रहार किये हैं—

मुञ्चन्तः पच यज्ञान् द्रविडभणितिभिर्मोहयन्तोऽनभिज्ञान्
निन्दन्तो हन्त यज्ञानसकृदपि हरेर्वन्दनं वारयन्तः।
लुम्पन्तः श्राद्धचर्यां यतिमपि गृहिणां वन्दनं कारयन्तः
सद्द्वेषं धारयन्तः कतिचिदविहितैः संक्षिपन्त्येव कालम्॥
विदुषामपि मोहमावहन्तो वितथैतिह्यसहस्रवर्णनेन।
विनयाभिनयात्खलाः किलामी विजयन्ते कपटालया जगन्ति॥

ये लोग पचमहायज्ञ नहीं करते; द्रविड भाषा की भणितियों से अज्ञों को ठगते हैं; यज्ञों की निंदा करते है; परमात्मा को प्रणाम करने से रोकते हैं; श्राद्ध-चर्चा का लोप करते है; अपने यतियों से भी गृहस्थों का वंदन कराते हैं; सज्जनों से द्वेष रखते हैं—इस तरह बड़े ही अनुचित काम करके ये लोग काल-क्षेप करते हैं। झूठे इतिहास और कथा-कहानियाँ कह कर ये लोग विद्वानों को भी धोखा देते हैं—उनके हृदयो में मोह उत्पन्न कर देते हैं। ये बड़े ही पापी और कपटी हैं। विनय का अभिनय दिखा कर ये संसार को ख़ूब ही ठगते हैं।

इन दुर्धर्ष आरोपों का निराकरण, जहाँ तक उससे हो सका, विश्वावसु ने किया और मुनिवर रामानुजाचार्य और उनके अनुगामियों पर किये गये प्रहारों का उसने यथाशक्ति वारण किया।

आंध्र, कर्नाटक, चोल और पांड्य आदि देशों—एकाम्रेश्वर, तुंडीर-मंडल, श्रीरंगम, जंबुकेश्वर आदि तीर्थ-स्थानों, कांचीपुरी, तंजावर, कुंभकोण आदि नगरों—बाहा, कावेरी, क्षीरपर्णी आदि

नदियों के दर्शन कराकर वेंकटाध्वरी ने उन गंधर्वयुग्मों के प्रवास-वर्णन की समाप्ति कर दी है।

उसका विश्व इतने ही में ख़तम हो गया है। उसके इस वर्णन के अनेक स्थल बड़े ही मनोरम है। खेद है, हम उन सबके नमूने दिखाने में असमर्थ हैं। क्योंकि लेख का विस्तार बढ़ जायगा। मदरास के वर्णन में वेंकटाध्वरी ने वहाँ के हूणों को यह सर्टीफ़िकट दिया है—

हूणाः करुणाहीनास्तृणवद् ब्राह्मणगणञ्च गणयन्ति।
तेषां दोषाः पारे वाचां ये नाचरन्ति शौचमपि॥

पुस्तकांत में पांड्य और चोलदेश के पंडितों पर भी वेंकटाध्वरी ने कृपा की है। वेदांती, ज्योतिषी, मीमांसक, तार्किक, वैय्याकरण, कवि और वैद्य महाशयों के गुण-दोषों का उल्लेख बड़ी ही रसवती और कौतुकोद्दीपक कविता में किया है। नौकरीपेशा लोगों—राज-सेवकों—को भी आपने नहीं छोड़ा। आप उनके विषय में, कृशानु के मुख से, फ़रमाते हैं—

नैषां सन्ध्या भवति सफला नाच्युतार्चाऽपि साङ्गा
न स्वे काले हवननियमो नापि वेदार्थचिन्ता।
न क्षुद्वेलानियतमशनं नापि निद्रावकाशः
न द्वौ लोकावपि तनुभृतां राजसेवापराणाम्॥

ये लोग न समय पर संध्योपासन कर सकते हैं; न भगवान् की सांगोपांग पूजा ही कर सकते हैं। वेदार्थचिंता भी इन्हें नसीब नहीं; यथा-समय हवन भी नहीं। न सोने के वक़्त इन्हें सोने को मिलता है; न भूख लगने पर समय पर भोजन ही मिलता है। ग़ुलामी के पाश में फँसे हुए इन लोगों का यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी।

वेंकटाध्वरी की यह युक्ति सर्वथा यथार्थ है।

जनवरी, १९२४

दिक्पालों की विरह-व्यथा

निषध-देश का राजा नल बड़ा प्रतापी और अनेक गुणों का आकर था। रूप में वह प्रत्यक्ष मार-महाराज को भी मात करनेवाला था। एक दिन वह शिकार खेलने गया। घूमते घामते एक पुष्करिणी के तट पर उसने एक बड़ा विलक्षण हंस देखा। वह परम सुंदर था। उसके शरीर की कांति तप्त सुवर्ण के सदृश थी। हंस श्रांत था और आँखे बंद किये बैठा था। नल दबे पैरों उसके पास गया और उसे पकड़ लिया।

राजा के द्वारा पकड़े जाने पर हंस ने मनुष्य-वाणी में बड़ा विलाप किया। उसने राजा को बहुत फटकारा भी। वह बोला—मैं मुनियों की तरह कंद-मूल खाकर रहता हूँ ; किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता। माँ मेरी जराजर्जर है। पत्नी सगर्भा है। हे भगवान्, अब उनकी क्या दशा होगी ! राजा, तू क्षत्रिय है। दुर्बलों की रक्षा करना तेरा धर्म्म है। उनको पकड़ना और उन पर अत्याचार करना तेरा धर्म्म नहीं। भुज-बल के दर्प से यदि तू दृप्त हो और अपना बल वैभव दिखाने के लिए तेरे बाहु यदि खुजलाते हों तो अपने किसी समकक्ष सुभट को छेड़। मुझ निरीह पक्षी पर तू क्यों अपना क्षत्रियत्व प्रकट कर रहा है ? तुझ अविवेकी को धिक्कार !

हंस का हृदयद्रवकारी विलाप सुन कर नल को दया आई। उसने उसे छोड़ दिया। इस पर हंस बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—मुझे छोड़ कर तूने मुझ पर जो उपकार किया है उसका बदला मैं देना चाहता हूँ। विदर्भदेश के राजा भीम की कन्या दमयंती परम सुंदरी है। सुरूपता में उसकी बराबरी करनेवाली और कोई भी

कामिनी त्रिलोक में नहीं। मैं उसके साथ तेरा विवाह करा देने की चेष्टा करूँगा। मुझे सामान्य पक्षी न समझ। मैं ब्रह्मा का वाहन हूँ। मैं ही उनका रथ खींचता हूँ। एक बार मैंने अपने स्वामी के मुख से सुना भी है कि दमयंती नल ही के योग्य है। यह कह कर हंस उड़ गया और दमयंती के पिता की राजधानी कुंडिनपुर जा पहुँचा।

वहाँ दमयंती को एकांत में पाकर उसने नल की बड़ी प्रशंसा की और उस पर दमयंती को अनुरक्त करा दिया। वहाँ से लौट कर हंस ने कार्य्यसिद्धि की सूचना नल को दी।

इस तरह नल और दमयंती दोनों प्रेमपाश से परस्पर आबद्ध हो गये। तब से दमयंती दिन-रात नल ही के चिंतन में चिंतित रहने लगी। धीरे धीरे उसकी नींद-भूख जाती रही। वियोग में जो दशा प्रेमियों की होती है उसकी पराकाष्ठा को वह पहुँच गई। नौबत यहाँ तक आई कि एक रोज़ वह बेहोश हो गई। यह ख़बर पाते ही उसका पिता भीम उसके पास दौड़ा आया। लक्षणों से रोग का कारण वह समझ गया और शीघ्र ही उसके विवाह की योजना में लग गया। उसने स्वयंवर की तैयारी कर दी।

दमयंती की रूपराशि का हाल इंद्र, अग्नि, यम और वरुण; इन चारों दिक्पालों ने भी सुन रक्खा था। स्वयंवर का समाचार पाकर वे भी, दमयंती की प्राप्ति की कामना से, चले। इधर नल ने भी, इसी निमित्त, अपने नगर से प्रस्थान किया। मार्ग में दिक्पालों से उसकी भेंट हो गई। दिक्पालों को यह ज्ञान हो गया था कि दमयंती नल ही पर अनुरक्त है। अतएव, उन्होंने सोचा कि नल के सदृश रूप-लावण्ययुक्त युवा और विश्वविश्रुत राजा को छोड़ कर वह हम लोगों में से किसी को शायद ही पसंद करे। इस कारण उन्होंने एक बड़ी ही निर्लज्जता का काम करने का निश्चय किया।

दिक्पालों ने नल की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। उन्होंने कहा—

तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो। तुम्हारे पूर्वज—तुम्हारे बाप-दादे—ऐसे थे। परोपकार की बड़ी महिमा है। उसके बराबर धर्म्म नहीं। दूसरों के लाभ के लिए परोपकार-व्रत के व्रती प्राण तक देते नहीं सकुचते। हम लोग आपसे एक याञ्चा करते है। ज़रा हमारे लिए कष्ट उठा कर दमयंती के पास तक चले जाव और हमारी दूतता कर दो। हम जो संदेश दें उसे दमयंती को सुना आवो और जी लगा कर इस तरह हमारी वकालत कर दो जिससे वह हमी में से किसी एक के गले में वर-माल्य डाल दे।

यह सुन कर नल को बड़ा दु:ख हुआ। उसने उन चारों की स्वार्थपरता को मनही मन बहुत धिक्कारा। उसने कहा, मैं तो स्वयं ही दमयती की प्राप्ति के लिये स्वयवर मे जा रहा हूँ। यह बात इन देवताओं से छिपी नही। फिर भी ये इतने नीच हैं कि मुझसे ऐसा गर्हित काम कराना चाहते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो। ये मेरे याचक हैं। मैं इनको निराश न करूँगा। मैं दिखा दूँगा कि चन्द्रवंशी राजा अपना सर्वस्व खोकर भी याचकों को विमुख नही करते।

यह सोच कर नल ने दिक्पालो के कथन का यथोचित उत्तर दिया और पूछा कि मै दमयंती के पास तक कैसे पहुँच सकूँगा। देवताओं ने कहा, अजी इसकी चिंता न कीजिए। लो, हम तुम्हे तिरस्करिणी विद्या सिखाये देते हैं। उसके प्रभाव से तुम भीम भूपाल के महलों के भीतर, अंतःपुर तक, बेधड़क चले जा सकोगे। तुम सबको देखोगे, तुम्हे कोई न देखेगा।

वह विद्या सीख कर और दिक्पालों का संदेश सुन कर नल ने तो कुंडिनपुर में प्रवेश किया। दिक्पाल वहीं, उस नगर के पास ही, कहीं बाहर, किसी बाग़ में ठहर गये।

नल राजा भीम के महलों के भीतर निर्बाध घुसते चले गये। उन्हें किसी ने न देखा। ठेठ दमयंती के कमरे मे पहुँचने पर वे

प्रकट हो गये। उन्हें इस तरह घुस आया देख दमयंती और उसकी सहेलियाँ सन्नाटे में आ गईं। किसी से कुछ करते-धरते न बना। वे सब उठ खड़ी हुईं और काठ की तरह इधर-उधर खड़ी रह गईं। सखियों की यह दशा देखकर दमयंती ही ने साहस का सहारा लिया। वह बोली—

आप कौन हैं? मनुष्य हैं या देवता हैं या नागलोक के निवासी हैं? किस देश को छोड़कर आपने उसे उजाड़ कर दिया? आपके नाम का आश्रय पाकर वर्णमाला के किन अक्षरों के सौभाग्य का परमोदय हुआ? आपका रूप देखकर नेत्र तो मेरे सफल हो गये। नाम बताकर अब मेरे कानों में भी सुधावृष्टि कर दीजिए। खड़े आप कब तक रहेंगे? आपको देखते ही मैंने अपना आसन जो छोड़ दिया है उसी पर बैठ जाइए। बताइए तो, आपके इस साहस का कारण क्या? आप किसे कृतार्थ करने के लिए यहाँ पधारे हैं?

नल ने दमयंती के आसन पर बैठना तो मुनासिब न समझा। पर उसकी एक सखी के आसन को खींचकर उसी पर बैठ गये। आपने अपना नाम-धाम कुछ न बताया। बोले, मैं दिक्पालों के पास से आ रहा हूँ। आप मुझे अपना ही अतिथि समझिए। मैं अपने मालिकों—दिक्पालों—का कुछ संदेश सुनाने आया हूँ। हो चुका। बहुत आव-भगत की ज़रूरत नहीं। आगत-स्वागत की बातों के फेर में न पड़िए। बैठ जाइए। आसन क्यों छोड़ दिया? मैं जिस कार्य के निमित्त आया हूँ उसे यदि आप सफल कर देंगी तो मैं उसी को बहुत बड़ा आतिथ्य समझूँगा—मैं समझूँगा कि आपने मेरी षोडशोपचार पूजा कर दी। कहिए, आप अच्छी तो हैं? शरीर तो आपका स्वस्थ है? मन तो मलिन नहीं। अब विलंब न कीजिए। सावधान होकर मेरा निवेदन सुन लीजिए—

मैं आज की बात नहीं कहता। उस समय की बात कहता हूँ

जब आपकी शैशवावस्था थी। तभी से आपके गुणगणों की गाथा दूर-दूर तक पहुँच गई थी और तभी से इंद्र, वरुण, यम और अग्नि आप पर अनुरक्त हैं। इन चारों को आप साधारण देवता न समझें। ये दिक्पाल हैं—ये अपनी-अपनी दिशा (उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम) के स्वामी हैं। इनका स्वामित्व यहीं समाप्त नहीं। इंद्र देव-समूह के अधीश्वर हैं, वरुण सलिलाधिप हैं, यम धर्म्मराज हैं और अग्नि यज्ञभाग के प्रधान अधिकारी हैं। इससे आप इनके प्रभुत्व का अनुमान अच्छी तरह कर सकती हैं। यही, इतने प्रभुताशाली दिगीश, आपके शैशव-काल ही से, आपके अनुरागी हो चुके हैं।

इनका इस समय का हाल तो कुछ पूछिए ही नहीं। आपमें अनुरागशील होने के कारण इस समय तो इन पर बड़ा ही अत्याचार हो रहा है। बात यह है कि पहले तो आपकी शैशवावस्था थी। पर अब शैशव और यौवन, इन दोनों ही से आपका संबंध हो गया है। क्योंकि इस समय आप वयःसंधि को प्राप्त हैं (अतएव आपकी वही दशा है जो दशा, इस समय, भारतवर्ष की है। आप पर भी द्विचक्री शासन हो रहा है और भारत पर भी। बंगाल में डाके पड रहे हैं; पंजाब में सत्याग्रह हो रहा है; मदरास में राज-कर न देने की तैयारियाँ हो रही हैं। सरकार कहती है, मैं अपना शासन अक्षुण्ण रक्खूँगी; प्रजा कहती है, यह मुझे मंज़ूर नहीं) इधर तो शैशव आप पर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहता है; उधर यौवन उसकी एक नहीं सुनता। वह कहता है—न, अब यहाँ मेरा आधिपत्य हो गया है। ऐसे द्विचक्री शासन में डाकुओं, चोरों और बदमाशों की बन आती है। ऐसे राज्य में रहने अथवा विचरण करनेवालों का जान-माल सलामत नहीं रह सकता। दिक्पालों को भी इसका कुफल भोगना पड़ा। उनका मन आपके इसी

शैशवयौवनात्मक द्विचक्री राज्य से संबंध रखनेवाले भावों में चिर-काल से विचरण कर रहा था। नतीजा यह हुआ कि वियोगियों की कांति के लुटेरे मार नाम के डाकू ने उनका सारा धैर्य-धन छीन लिया। इससे उनके मन को इस समय जो संताप हो रहा है उसका ठीक-ठीक अंदाज़ा वही कर सकता है जिसका सर्वस्व चोर या डाकू लूट लेते हैं। यह इतनी संगीन डाकेज़नी आप ही की बदौलत हुई है!

अपनी पत्नी का आदर-सत्कार करना सभी का धर्म है। इन दिक्पालों की भी पत्नियाँ विद्यमान हैं। पूर्वादि आशायें (दिशायें) क्या हैं? वे इनकी पत्नियाँ ही हैं। पहले ये लोग अपनी इन आशाओं पर यथेष्ट अनुरक्त थे। पर अब? अब कुछ न पूछिए। अब तो उनकी ओर उनके स्वामी दिगीश्वरों का ध्यान तक नहीं जाता। अब तो एक-मात्र आपकी प्राप्ति की आशा ने उनके हृदय पर अधिकार कर लिया है। वहाँ अब अन्य के लिए जगह ही नहीं। आपके सदृश उदार और अपूर्व नायिका की ओर आकृष्ट हो जाने के कारण ये दिक्पाल पूर्वादि आशाओं (दिशाओं) के परिपालनाधिकार को अब भूल सा गये हैं। अपूर्व वस्तुओं की प्राप्ति की आशा पूर्व-वर्तिनी सामान्य आशाओं को यदि दबा दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

❀ ❀ ❀

आपका यौवन दिन दूना बढ़ता आ रहा है। जैसे-जैसे वह उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है वैसे ही वैसे कुसुमशायक भी अपने शरासन पर रोदे को चढ़ाता गया है। साथ ही सुराधिप इंद्र का प्रेम भी आप पर उसी अनुपात से वृद्धि को प्राप्त होता गया है। अब तो यह हाल है कि इधर तो आपका यौवन पराकाष्ठा को पहुँच गया है उधर पुष्पधन्वा के धनुष की प्रत्यंचा पूरी खिंचकर पराकाष्ठा को पहुँच गई है और

साथ ही सुरेश्वर का अनुराग भी आप पर पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

इस समय तो इंद्र की कुछ अजीब ही हालत हो रही है। उसकी विवेक-बुद्धि मारी सी गई है। वह कुछ का कुछ समझने लग गया है। चंद्रदर्शन से उसे बहुत संताप होता है। वह उस पर बेतरह कुपित है। उसका यह कोप बेजा नहीं। परंतु सूर्य्य ने उसका क्या बिगाड़ा है? तथापि वह उसके विषय में भी क्रोधांध हो रहा है। बात यह है कि उदित होने पर प्रातःकाल सूर्य्य का बिंब भी चंद्रमा ही के बिंब के सदृश लाल होता है—चंद्रबिंब से वह भी मिलता-जुलता है। और, संताप तो वैसी हृदयाह्लादिनी वस्तु से होता ही है। अतएव इंद्र समझता है कि यह सूर्य्य नहीं, यह तो चंद्रमा ही है। इस कारण क्रोध से उसकी वे हज़ारों ही आँखें अरुण हो जाती हैं और वह उनसे सूर्य्य की तरफ इस तरह देखता है जैसे वह उसे खा जाना चाहता हो। अपराध करे कोई, क्रोधदृष्टि का निशाना बनाया जाय कोई और ही! यह पागलपन नहीं तो क्या है? सच तो यह है कि क्रोधांध की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती।

मैं कहता हूँ कि इस दुर्विनीत काम को हो क्या गया है। इंद्र यदि अंधे के सदृश व्यवहार करे तो इसे क्यों वैसा व्यवहार करना चाहिए। यह तो अपने अविवेक का फल एक दफ़े चख भी चुका है। जिनके तीन ही आँखें है उन त्रिनेत्र (शंकर) को तंग करने के कारण इसे जो सज़ा एक दफे मिल चुकी है उसी से इसका पिंड अभी तक नहीं छूटा। वह सज़ा यह अभी पूरी-पूरी नहीं भुगत पाया। वह घाव इसका अभी तक बना हुआ है। क्रुद्ध होने पर शंकर ने इसे जलाकर जो अनंग कर दिया था वह अनंगता इसकी अभी तक ज्यों की त्यों है। पर यह फिर भी अपनी शरारत से बाज़ नहीं आता। तीन ही आँखवाले के कोप से तो इसकी यह दुर्गति

हुई है ; अब इसने एक हज़ार आँखवाले इंद्र से भी छेड़छाड़ शुरू कर दी है। यदि कहीं वह भी शंकर ही के सदृश इस पर क्रुद्ध हो उठा तो भगवान् ही जाने इस अविवेकी अनंग की क्या दशा हो!

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं य-
तदेव योऽद्यापि न सवृणोति।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे
गन्ता स कामः खलु कामवस्थाम्॥

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि सुरेश पर स्मर यदि इतना घोर अत्याचार कर रहा है तो वह उसे सज़ा क्यों नहीं देता? इंद्र तो सुरेश्वर है; बड़ा बली भी है। साथही उसका अस्त्र वज्र' इतना भीषण है कि उसकी एक ही चोट से वह पर्वतों को भी चकनाचूर कर सकता है। फिर बात क्या है जो वह अपाहिज बना बैठा है और अपने शत्रु मनसिज का अत्याचार चुपचाप सह रहा है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इंद्र इतना नादान या अपाहिज नहीं। वह अपनी शक्ति का यथेष्ट ज्ञान रखता है। पर वह करे क्या? भगवान् भोला-नाथ (महेश्वर) ने मनसिज को अनंगता का अभेद्य कवच जो पहना रक्खा है। हाय! यदि यह बात न होती तो इंद्र ने काम का काम कब का खतम कर दिया होता—वज्र की एक ही चोट से उसने उसे नामशेष कर डाला होता। वज्र भौतिक पदार्थों और शरीरधारी प्राणियों ही पर आघात कर सकता है। परंतु काम के शरीर ही नहीं। इसी से वज्र का होना, न होना तुल्य है। हवा में वज्र चलाने से क्या लाभ? निशाने के अभाव में वज्र बेचारा कर ही क्या सकता है? इस दुर्व्यवस्था के घटक कपर्दी कैलासनाथ की बुद्धि की बलि-हारी! अफ़सोस!

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य
स्मतु'स किं नाशनिना करोति।

अभेद्यमस्याहह वर्म न स्या-
दनङ्गता चेद् गिरिशप्रसादः॥

शरीर संतप्त और मन मलिन होने पर, किसी फूलबाग़, या उद्यान, या उपवन मे क्षणभर बैठने से बहुत आराम मिलता है। और, इंद्र के नंदन-वन से बढ़कर सुंदर और मनोरम उद्यान संसार में और नहीं। परंतु अभाग्यवश इंद्र बेचारे को, घडी भर दिल बहलाने के लिए, वहाँ भी जाना नसीब नहीं होता। बात यह है कि कोकिल का अलाप उसके कानों को असह्य है। वह यदि इंद्र को सुनाई दे तो उसे इतना कष्ट हो जैसे किसी ने उसके कानों को सुई से छेद दिया हो। इसी से वह भूल कर भी नंदनोद्यान के भीतर पैर नहीं रखता। उसे वहाँ जाने का साहस ही नही होता। लोक में यदि कोई किसी का अपकार हाथ, पैर या शरीर के और किसी अवयव से करता है तभी वह उसे पर्याप्त अपराधी समझता है। पर इंद्र तो पिक की वाणी-मात्र को भी बहुत बडा अपराध समझ रहा है।

सतप्त मनुष्य को शीतोपचार से बहुत सुख मिलता है। इस उपचार के साधन भी इंद्र के पास बहुत हैं। हिमांशुशेखर हर उसी के राज्य में रहते है और संतापहारी चंद्र उनके मस्तक पर विराजमान है। परतु उसका आश्रय लेना तो दूर रहा, इंद्र ने तो शिवाराधन तक छोड़ दिया है। वह इस समय शिव को पूजा का पात्र ही नहीं समझता। वह तो उन्हे इसलिए अपराधी समझ रहा है कि उन्होंने बाल चंद्रमा को अपने भालस्थल मे स्थान दे रक्खा है। बात यह है कि पूर्ण या आधे चंद्रमा ही को नहीं, अत्यंत छोटे प्रतिपचद्र के भी दर्शन से उसका संताप घटता तो नहीं, उलटा बढ़ जाता है—

पिकस्य वाङ्मत्रकृताद् व्यलीका-
न्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि।

बालस्य चूडाशशिनोऽपराधा-
न्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥

आपके वियोग में सुरेश्वर इंद्र की जो दुर्गति हो रही है उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। धैर्य्य ने तो उसका साथ बिलकुल ही छोड़ दिया है। वह अत्यंत अधीर हो रहा है। शरीर-संताप उसका बढ़ता ही जाता है। उसे कम करने के लिए भाँति-भाँति के उपचार किये जाते हैं। परंतु लाभ किसी से रत्ती भर भी नहीं होता। उलटा हानि ज़रूर होती है। अमरावती में अनेक कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो कुछ माँगा जाय, सभी दे सकते हैं। वे दूसरों का दारिद्र दूर करने में सर्वथा समर्थ हैं। परंतु इंद्र ने, इस समय, ख़ुद उन्हीं को महा-दरिद्र कर दिया है। उसके लिए शीतोपचार की आवश्यकता होने के कारण उसके नौकर-चाकर रोज़ ही उसके लेटने के लिए कोमल-कोमल पत्तों की आर्द्र शय्यायें तैयार किया करते रहे हैं। ये पत्ते उन्हीं कल्पपादपों से तोड़-तोड़ कर लाये जाते थे। परंतु वे अनंत समय तक थोड़े ही मिल सकते थे। ख़र्च बहुत, आमदनी कम। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में उनके समस्त पल्लव नुच गये। अब तो वे बेचारे ठूँठ बने खड़े हैं; उनमें पत्ते का नाम तक नहीं। उनके इस प्रवालदारिद्र को देख कर कहना पड़ता है—औरों का दारिद्र दूर करने की शक्ति रखनेवाले कल्पपादपों को भी दारिद्र भोग करना पड़ा! वाम विधि चाहे जो करे!

इंद्र की दुर्दशा का यह हाल सुनकर शायद आप अपने मन में कहें—अजी इस अविवेकी इंद्र की अक़्ल ठिकाने लानेवाला क्या इसके यहाँ एक भी समझदार उपदेशक नहीं? इसके गुरु बृहस्पति किस मर्ज़ की दवा हैं? क्यों नहीं वे इसे समझा देते कि इंद्राणी के रहते अन्य नायिका के कारण क्यों इतना कष्ट उठा रहे हो? धीर धरो। मिलेगी तो मिल जायगी। न मिलेगी तो क्या उसके लिए

जान दे दोगे? आपकी यदि ऐसी ही कल्पना हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि आपका वस्तुज्ञान यथार्थ नहीं। गुरुवर बृहस्पति उदासीन नहीं। वे अनवरत सदुपदेश करते ही रहते हैं। और उनके उपदेश भी कुछ ऐसे वैसे नहीं होते। यदि उनकी भनक कान में एक बार भी पड़ जाय तो स्मरांधों की भी मोहनिद्रा एक मिनट में टूट जाय। पर वह कान के भीतर पडे भी तो। इंद्र तो वहरा हो रहा है— एक कान से नहीं, दोनों से। बात यह है कि उसका शत्रु स्मर, उसके सन्मुख ही खडे होकर, दिन-रात, अपने धन्वा की प्रत्यचा का घोर टंकार-नाद किया करता है। इस दशा में इंद्र के कान कब तक प्रकृतिस्थ रह सकने थे। धनुष्टकार सुनते-सुनते उनके परदे फट गये और अब वह श्रवण-शक्ति खोकर पूरा वहरा बन गया है—

> रवैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य
> स्वर्णार्थकर्णौ वधिरावभूताम्।
> गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्रा-
> प्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि॥

❀ ❀ ❀

भगवान् रुद्र की आठ मूर्तियों में से जो मूर्ति अत्यंत देदीप्यमान है और जिसकी उपासना आहिताग्नि जन नित्य ही बड़े भक्ति-भाव से करते हैं उसे भी आप जानती ही होंगी। वह अग्निदेव भी एक दिशा का स्वामी है। आपका कैंकर्य्य करने के लिए उसे भी आज्ञा हो चुकी है—उसके नाम भी हुक्मनामा जारी हो चुका है कि जा, तू भी दमयंती का दास हो जा। यह हुक्म किसी ऐसे वैसे का नहीं, जो टाला जा सके। इसे तो स्वयं स्मर महाराज ने दिया है। अतएव इसे अनुल्लंघनीय समझ कर अग्नि भी आपका दास हो गया है।

कदर्प, आपका आश्रय लेकर, अग्नि को बहुत ही कडी सज़ा दे रहा है। आपकी दासता कराकर अग्नि को वह उसकी निर्दयता का

बदला सा दे रहा है—उसे वह इस बात का सबक़ सा पढ़ा रहा है कि देख जलने से कितना दाह और तज्जन्य कितनी पीड़ा होती है। अग्नि सदा ही दूसरों को जलाया करता है; परंतु जलन कितनी संतापकारिणी होती है, इसका उसे स्वयं अनुभव नहीं। आपकी वियोग-ज्वाला में जलने से उसे अब उसका पूरा-पूरा अनुभव हो जायगा। अतएव भविष्यत् में वह औरों को जलाने का कभी साहस न करेगा। इसी लिए स्मर ने यह अद्भुत योजना कर दी है। आशा है, अब वह यथेष्ट विनयसंपन्न हो जायगा—

त्वद्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः
करोति सन्ताप्य तथा विनीतम्।
स्वयं यथास्वादिततापभूयः
परं न सन्तापयिता स भूयः॥

घटना यद्यपि पुरानी है तथापि आपने उसे अवश्य ही सुना होगा। वह यह कि त्रिलोचन की तीसरी आँख के भीतर सुरक्षित बैठ कर अग्नि ने एक बार कुसुमायुध को भस्म कर दिया था। अग्नि का यह अत्याचार काम को अब तक नहीं भूला। तब से वह उसे अपना पक्का शत्रु समझता है और सदा इसी ताक में रहता आया है कि कब मौक़ा मिले और कब मैं इससे उस पुराने वैर का बदला लूँ। वह मौक़ा अब कहीं उसके हाथ आया है। अतएव जब से कुसुमायुध के लिए आपकी आँखों के भीतर घर बना कर रहने की योजना हुई तभी से उसने अग्नि को जलाना आरंभ कर दिया। यद्यपि इस दाह-कार्य्य का आरंभ हुए बहुत समय हो गया और तब से बेचारा अग्नि बराबर जलता ही चला आ रहा है, तथापि मनसिज महाराज को अभी संतोष नहीं हुआ। वे कहते हैं कि अभी तक वैर का यथेष्ट बदला नहीं चुकता हुआ। अभी इसे और कुछ दिन जलाना बाक़ी है—

अदाहि यस्तेन दशार्द्धवाणः
पुरा पुरारेर्नयनालयेन ।
स निर्दहंस्तं भवदधिवासी
न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः ।

मैं सच कहता हूँ, अग्नि की हालत बहुत ही बुरी है। वह बेचारा अत्यंत ही दयनीय दशा को प्राप्त हो रहा है। आपके कारण, उस पर कंदर्प्प-देव के कुसुमशरों की अजस्र वर्षा हो रही है। वह अब उससे बेतरह घबरा गया है—यहाँ तक कि साधारण भी कुसुमों (फूलों) को देखते ही उसका हृदय काँपने लगता है। इसी से उसकी पूजा करनेवाला कोई भक्त भी यदि कुसुमांजलि लेकर उसके सामने उपस्थित होता है तो वह पीछे हट जाता है। उस समय वह ऐसा व्यवहार करता है जैसे वह उन पुष्पों से भयभीत हो गया हो—

शरैरजस्रैः कुसुमायुधस्य
कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेश्यमाना-
दग्धेप मन्ये कुसुमाद् बिभेति ॥

❀ ❀ ❀

सरोरुहों के सखा सूर्य जिससे पुत्रवान् हैं और चारु चंदन के सौरभ से सुवासित दक्षिण दिशा जिसकी प्रेयसी है उस दक्षिण-दिक्पाल यम का भी बुरा हाल है। आपही के कारण वह भी अनंत यातनायें भोग रहा है। स्मराग्नि की जलती हुई ज्वाला में गिर कर उसका धैर्य्य तो एकदम ही स्वाहा हो गया है। वह भी अहर्निश हाय-हाय करता हुआ तड़प रहा है।

यम इस समय स्मराग्नि का ईंधन हो रहा है। वह आग उसके सारे शरीर को जला रही है। मलयाचल से उसका यह ज्वाला-जात दाह नहीं देखा जाता। इससे वह अपने कोमल-कोमल पत्तों से,

उसकी जलन कम करने के लिए, शीतोपचार किया करता है। इसे आप कोई सहल काम न समझें। यम के जलते हुए शरीर से संपर्क होने के कारण यद्यपि मलय के पल्लव-रूपी हाथ भी जला करते हैं तथापि वह इस दाह-व्यथा को किसी तरह सह रहा है। बात यह है कि जिस दक्षिण दिशा का स्वामी यम है उसी में मलय-पर्वत का भी वास है—वह उसी के राज्य में रहता है। इसी से वह यम के इस विपत्काल में उसका साथ दे रहा है। विपत्ति में अपने आश्रय-दाता की सेवा और सहायता करना ही आश्रित जन का धर्म है—

तं दह्यमानैरपि मन्मथैर्धं
हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां
सदा यदाशामवलम्बते यः॥

❀ ❀ ❀

पश्चिम दिशा बड़ी शौक़ीन है। वह अरुणिमारूप कुंकुम से सायंकाल नित्य ही अपने शरीर का प्रसाधन किया करती है—वह उस पर कुंकुम का लेप सा लगाया करती है। इस कौतुकप्रिय दिशा का स्वामी वरुण भी आपका अनुरागी हो रहा है। उससे एक भूल बहुत बड़ी हो गई। ज्योतिषशास्त्र के किसी ज्ञाता से पूछे बिना ही उसने अपने मन को आपके पास रवाना कर दिया। पर जिस घड़ी वह रवाना हुआ वह बहुत ही बुरी घड़ी थी। क्योंकि तब से वह लौटा ही नहीं। वह यहीं आपही के पास रह गया है। इससे सूचित होता है कि उसका प्रस्थान चित्रा या स्वाती नक्षत्र ही में हुआ होगा। क्योंकि जो जन इन नक्षत्रों में अपने घर से निकलता है वह फिर नहीं लौटता। वह तो जहाँ जाता है वहीं रम रहता है।

वरुण भी दिक्पाल है। वह उदधियों का अधीश्वर है और वहीं रहता भी है। ये उदधि भूखे बड़वाग्नि को अनंत काल से अपने

हृदय में धारण किये हुए हैं। वह आग ऐसी वैसी नहीं; बड़ी ही भीषण है। पर उसके कारण उत्पन्न हुए ताप को वे किसी तरह सह लेते हैं। तथापि अब एक और आग उनसे नहीं सही जाती। क्योंकि वह उससे भी अधिक दाहक है। वह आग है उनके—समुद्रों के—स्वामी वरुण की विरह-ज्वाला। बात यह है कि जब से वह आप पर अनुरक्त हुआ तभी से वह अत्यंत तीव्र स्मराग्नि के ताप से दहक रहा है। उसके उस दाहक शरीर से दग्ध उदधि त्राहि-त्राहि कर रहे हैं—

तथा न तापाय पयोनिधीना-
मखामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान्।
निजः पतिः सम्प्रति वारिपोऽपि
यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः॥

पश्चिम-दिक्पति वरुण जब आपके विरह-ताप से बहुत ही विह्वल हो जाता है तब संताप-शांति के लिए अत्यंत शीतल बाल मृणालियों का आश्रय लेता है। परंतु फल इसका उलटा ही होता है। उनका आश्रय लेते ही वरुण को आपकी मृदुल बाहुवल्ली याद आ जाती है। इस कारण संताप का शमन या न्यून होना तो दूर रहा वह और भी उल्बण हो उठता है। तब वह व्याकुल होकर अपने संतप्त हृदय पर मृणाल-दंडों के खंड उठा-उठा कर रखने लगता है। पर उसके चित्त में पंचशर के पैने-पैने असंख्य शर धँसे रहने के कारण उनकी नोकों से उन मृणाल-खंडों के भीतर छेद ही छेद हो जाते हैं। वे किसी काम के नहीं रह जाते (मृणाल-दंडों के भीतर जो छेद होते हैं वे इन शरों ही के किये हुए हैं)

❀ ❀ ❀

ये चारों दिक्पाल यद्यपि त्रिलोकी के तिलक हैं तथापि आपके कारण इस समय ये बड़ी ही विपन्नावस्था को प्राप्त हैं। इन पर

मदन देव अपने विक्रम का दुरुपयोग कर रहा है। कारण यह है कि आप उसे अमोघ अस्त्र के सदृश जो मिल गई हैं। यदि उसे आप-का सहारा न मिला होता तो न तो वह इतना मदांध ही हो जाता और न दिक्पालों के संबंध में वह इतनी अनर्गल चपलता ही करने का साहस करता।

ऐसी दुःस्थिति के समय इन चतुर्दिक्पाल-देवताओं ने अकस्मात् यह सुना कि कल दमयंती का स्वयंवर है। इस समाचार ने उनके कानों में सुधारस के सार की सरिता सी प्रवाहित कर दी। उनकी मुरझाई हुई हृत्कलिका कुछ-कुछ खिल उठी। बस फिर क्या था। उधर तो भावी सापत्न्य-भाव के अत्यंत तीक्ष्ण दुःख के ख़याल से उनकी पत्नियों की नासिकाओं से ऊर्ध्वश्वास निकले और इधर अनंग के शौर्य्यानल-ताप से संतप्त, उनके पति, दिक्पाल आपके नगर में पहुँचने के लिए, अपनी-अपनी राजधानियों से निकल पड़े।

जब कोई कहीं बाहर जाता है तब राह में खाने-पीने के लिए पाथेय साथ लेता है। दिक्पालों के यहाँ खाने-पीने के समान की कमी नहीं। वे चाहते तो घड़े दो घड़े अमृत ही अपने साथ ले लेते। परंतु उन्होंने पाथेय लेने की ज़रा भी ज़रूरत न समझी। भूख-प्यास की उन्होंने परवाह ही न की। आपकी प्राप्ति से संबंध रखनेवाले मनोरथ ही को उन्होंने सुधा से भी अधिक स्वादिष्ट समझा। बस उसी का आस्वादन करते हुए उन्होंने इतनी लंबी यात्रा सुख से समाप्त कर डाली। न उन्हें प्यास ने सताया, न भूख ने।

आपके कारण अपनी प्रियतमा पत्नियों को मनोभव के बाणों की दहकती हुई आग में झोंक कर ये चारों सुरोत्तंस दिक्पाल अब अपने पदार्पण से इस भूमि का सौभाग्य बढ़ा रहे हैं। वे इस नगर

के बाहर पास ही पहुँच गये हैं और वहीं ठहरे हुए उस स्थान को अलंकृत कर रहे हैं। वे आपको अपनी-अपनी प्रेम-पत्रिकायें अवश्य ही अर्पण करते। परंतु उनके पत्र देव-लिपि में होते, जिसे आप पढ़ न सकतीं। इससे उन्होंने मुझको ही अपना जंगम (चलता-फिरता) पत्र सा बनाकर आपकी सेवा में भेजा है और आपका कल्पनामय गाढ़ालिंगन करके, संदेश के रूप में, आपसे प्रत्येक ने, अलग-अलग, यह निवेदन करने की आज्ञा दी है—

हे दमयंति, स्मर नामक भील ने हमारे हृदय में ऐसे बाण मारे हैं कि वे टूट कर वहीं रह गये हैं। उनके घावों की पीड़ा से हम लोग मूर्च्छित हो रहे हैं। बाणों के उन टूटे हुए टुकड़ों को निकालने और घावों को अच्छा करने की एक-मात्र विशल्यौषधि-लता आप हैं। और कोई दवा कारगर नहीं। अतएव हम पर कृपा करके हमारी जान बचा लीजिए—

एकैकमेते परिरभ्य पीन-
स्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति।
त्वं मूर्च्छतान्नः स्मरभिल्लशल्यै-
र्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि॥

[नैषधचरित से]

मई, १९२४

हम्मीर-महाकाव्य

संस्कृत-भाषा में ऐतिहासिक काव्यों की बहुत कमी है। संभव है, बहुत लिखे गये हों, पर उनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हों। ऐसे दो-चार काव्य जो उपलब्ध हैं उनमें भी ऐतिहासिकता कम, कवि-कल्पना ही अधिक है। तथापि उनका भी महत्त्व कम न समझना चाहिए। उनमें जो अल्पाधिक ऐतिहासिक तत्त्व निबद्ध पाये जाते हैं, उनसे भी भारतीय इतिहास के संकलन में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हम्मीर-महाकाव्य ऐसा ही काव्य-ग्रंथ है। उसका अधिकांश कल्पना-प्रसूत होने पर भी, इतिहास भी उसमें कुछ अवश्य है और उस इतिहास का संबंध रणस्तंभपुर (रणथंभोर) के अधीश्वर हम्मीर से है। यह वही हम्मीर है जिसकी हठ प्रसिद्ध है और जिसके चरित-वर्णन से पूर्ण हम्मीर-रासो नाम का एक हिंदी-काव्य प्रचलित है।

इस काव्य का कर्त्ता नयचंद्र-सूरि जैन-धर्म्मावलंबी था। उसके गुरु का नाम जयसिंह-सूरि था, जिसने न्यायसार-टीका, एक नया व्याकरण और किसी कुमार-नामक राजा के संबंध में एक काव्य-ग्रंथ का निर्म्माण किया है। वह कृष्णगच्छ नाम के जैन-संप्रदाय के अंतर्गत था। नयचंद्र-सूरि इसी जयसिंह-सूरि का शिष्य था। साथ ही उसका पौत्र और पुत्र भी था। पौत्र इसलिए कि वह जयसिंह के लड़के का लड़का था। और पुत्र इसलिए कि उसके हृदय में कवित्व का बीज जयसिंह ही की कृपा से अंकुरित हुआ था अथवा वह जयसिंह ही के सदृश रसभाव-पूर्ण कविता करता था। इस विषय में नयचंद्र ने स्वयं ही लिखा है—

पौत्रोऽप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः
काव्येषु पुत्रतितमां नयचन्द्रसूरिः ।
नव्यार्थसार्थघटनापदपङ्क्तियुक्ति-
विन्यासरीतिरसभावविधानयत्नैः ॥

मैं जयसिंह-सूरि का शिष्य हूँ, यह बात तो नयचंद्र ने हम्मीर-महाकाव्य के हर सर्ग के अंत में लिखी है। उसका यह काव्य "वीरांक" है। इसके हर सर्ग के अंत में "वीर" शब्द आया है।

एक दिन की बात है कि किसी तोमर या तोमर-वीरम नामक राजा की सभा मे प्राचीन काव्यों के विषय में चर्चा हो रही थी। उस समय कुछ लोगों की यह राय हुई कि अब वैसे काव्यों की रचना करने की शक्ति किसी में नही। यह सुन कर तोमर-नरेश ने नयचंद्र की तरफ़ भृकुटी का इशारा किया। यह हम्मीर-महाकाव्य उसी इशारे का फल है। यथा—

काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद्विधाताधुने-
त्युक्ते तोमरवीरम-क्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि ।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृङ्गारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः ॥

यह तोमर-नरेश कौन था, कहाँ का था और कब हुआ, ये बातें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। हम्मीर-महाकाव्य के संपादक का अनुमान है कि अकबर के ७० वर्ष पहले वह विद्यमान था।

टाड साहब ने अपने "राजस्थान" में एक हम्मीर-काव्य का उल्लेख किया है; पर यह नहीं लिखा कि वह किस भाषा में है और किसका बनाया हुआ है। डॉक्टर बूलर ने भी विक्रमांकदेव-चरित की भूमिका में हम्मीर-मर्दन नामक एक काव्य का नाम दिया है। संभव है ये दोनों ही कापियाँ उसी काव्य की नकल हों जिसकी रचना नयचंद्र की की हुई है। प्रस्तुत पुस्तक का संपादन नीलकंठ

जनार्दन कीर्तने नाम के एक महाराष्ट्र सज्जन ने किया है। उसे प्रकाशित हुए ४४ वर्ष हुए। पुस्तक की एक कापी उन्हें नासिक के निवासी गोविंद शास्त्री निरंतर की कृपा से प्राप्त हुई थी। उसके अंत में ये समापन-वाक्य हैं—

"संवत् १५४२ वर्षे श्रावणे मासि श्रीकृष्णर्षिगच्छे श्रीश्रीजय-सिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थं श्रीपेरोजपुरे हम्मीरमहाकाव्यं लिलिखे।"

अर्थात् जयसिंहसूरि के शिष्य नयहंस ने फीरोज़पुर में अपने पढ़ने के लिए इस पुस्तक को लिखा या नक़ल किया। काव्यकर्ता भी अपने को जयसिंह का शिष्य बताता है और नयहंस भी। अतएव ये दोनों ही गुरुभाई हुए। अतएव, बहुत संभव है, नयहंस ने नयचंद्र की असल पुस्तक ही से यह कापी तैयार की हो। इस कापी को लिखे गये कोई ४४१ वर्ष हुए। इससे यह भी सूचित हुआ कि हम्मीर के बाद सौही डेढ़ सौ वर्ष के भीतर नयचंद्र ने इस महाकाव्य की रचना की होगी और हम्मीर के विषय में जो बातें उसने लिखी हैं वे उस समय तक बहुत पुरानी न हुई होंगी। बहुत संभव है, उस समय तक भी हम्मीर के ज़माने या उसकी एक पीढ़ी बाद के कुछ लोग जीवित रहे हों और उनसे तथ्य-संग्रह करके कवि ने उसका सन्निवेश इस काव्य में किया हो।

हम्मीर के पिता जैत्रसिंह ने, संवत् १३३९ में, उसे सिंहासनासीन कर दिया और ख़ुद राज-कार्य से विरक्त हो गया। हम्मीर-महाकाव्य के आठवें सर्ग में कवि ने लिखा है—

ततश्च संवन्नववह्निवह्नि-भूहायने माधवलक्षपक्षे।
पौष्यां तिथौ हेलिदिने सपुष्ये दैवज्ञनिर्दिष्टबलेऽलिलग्ने॥

परंतु, इस काव्य के संपादक कीर्तने महाशय अपनी भूमिका में कहते हैं—

"Jaitra Singh × × × gave over the charge of the State to him (Hammir) and himself went to live in the forest This happened in Sambat 1330 (A. D. 1283).

और प्रमाण में वही श्लोक देते हैं जो हमने ऊपर दिया है। उसमें नौ (९) के अंक का बोधक "नव" शब्द प्रत्यक्ष विद्यमान है; फिर उसे उन्होंने शून्य (०) का सूचक कैसे माना, यह समझ में नहीं आता। संवत् १३३० को उन्होंने सन् १२८३ के बराबर समझा है। यह सही नहीं जान पड़ता; क्योंकि इन दोनों संवतों में प्रायः ५७ वर्ष का अंतर रहता है। परंतु यदि नयचंद्र के दिये हुए संवत् को १३३९ मान लें और उसमें से ५७ वर्ष घटा दें तो सन् १२८२ या ८३ निकल आता है, जो प्रायः ठीक मालूम होता है। अतएव संवत् १३३० लिखना या तो कीर्सनेजी की या छापे की भूल है। १८ वर्ष पर्यंत राज्य भोग करके, अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध में, जूलाई १३०१ ईसवी में, हम्मीर ने शरीर छोड़ा। अमीर ख़ुशरू के तारीख़े-अलाई के आधार पर, संपादक ने हम्मीर का जो यह मरण-समय लिखा है, वह भी तभी ठीक हो सकता है जब उसके सिंहासनारूढ होने का समय संवत् १३३० के बदले १३३९ माना जाय। अस्तु।

हम्मीर ने यदि संवत् १३३९ में राजगद्दी पाई और १८ वर्ष राज्य करके वह मरा तो उसकी मृत्यु संवत् १३५७ में हुई होगी। और जिस हस्त-लिखित पुस्तक के आधार पर प्रस्तुत काव्य का संपादन हुआ है वह १५४२ सवत् में लिखी गई थी। अर्थात् उस समय हम्मीर को मरे कोई १८५ वर्ष हो चुके थे। उसकी नक़ल की जाने के दस-पाँच वर्ष पहले ही उसकी रचना हुई होगी। उस समय यदि हम्मीर के ज़माने के मनुष्य जीते न रहे होंगे तो उसके

राज्य-काल की घटनायें बहुत पुरानी भी न हो गई होंगी। अतः स्वयं हम्मीर के संबंध की जिन घटनाओं का वर्णन इस काव्य में है उनमें बहुत कुछ तथ्यांश होने की संभावना है।

पुराने साहित्य-शास्त्रियों ने कवियों के मार्ग को बेतरह संकीर्ण कर दिया है। उन्होंने ऐसे जटिल नियम बना दिये हैं कि किसी रचना को महाकाव्य की सीमा के भीतर लाने के लिए कवियों को अनेक अनावश्यक विषयों का वर्णन करना पड़ता है। नयचंद्र ने यद्यपि हम्मीर के चरित-वर्णन की इच्छा ही से इस काव्य की रचना में हाथ लगाया था, तथापि उसे और भी कितनी ही अवांतर बातों का अप्रासंगिक सा वर्णन करना पड़ा। वह सिर्फ़ इसलिए कि उसका काव्य महाकाव्य में परिगणित हो सके। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए उसे इस काव्य के कई सर्गों को ऋतु, जलक्रीड़ा और शृंगारचेष्टाओं के कल्पित वर्णनों से भर देना पड़ा है। आदि के कई सर्गों में उसने हम्मीर के पूर्वजों का जो वर्णन किया है उसमें भी कल्पना ही अधिक है, सचाई या ऐतिहासिकता बहुत ही कम। सिर्फ़ ६ सर्ग इसके ऐसे हैं जिनकी कविता के विषय का आधार इस काव्य का नायक हम्मीर है।

हम्मीर सचमुच ही वर्णनीय-चरित राजा था। वह चाहमान या चौहान-वंश का क्षत्रिय था। बड़ा वीर था। क्षत्रिय-धर्म्म के परिपालन को वह अपना बहुत बड़ा कर्तव्य समझता था। वह न्यायी था, दीनदयालु था, स्वाधीनता-प्रेमी था और सबसे अधिक था शरणागतवत्सल। उसे अन्याय असह्य था। अन्यायियों के सामने उसने कभी अपना मस्तक नहीं झुकाया। अन्याय-रत मुसलमानों की शक्ति को उसने कई बार नष्ट नहीं तो खर्व ज़रूर कर दिया। अंत में उसने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ख़िलजी तक का मुक़ाबला करना मंज़ूर किया, परंतु शरण में आये हुए एक

मंगोल सरदार, महिमाशाह, को सौंप देना मंज़ूर न किया। बादशाह ने कहला भेजा कि इस बाग़ी आदमी को आप मुझे सौंप दें। इसे आपने क्यों पनाह दी? आपने ऐसा करके मुझसे अपना शत्रु-भाव प्रकट किया है। उत्तर में हम्मीर ने कहा—शरणागत को अभय-दान देना क्षत्रियों का परम धर्म्म है। सूर्य चाहे पश्चिम में उदय हो जाय और सुमेरु-पर्व्वत चूर्ण होकर चाहे पृथ्वी पर बिछ जाय, पर शरण में आया हुआ मनुष्य नहीं भेजा जा सकता।

निदान चार महीने तक अलाउद्दीन रणथंभोर को घेरे पड़ा रहा। उसे हम्मीर ने नाकों चने चबवाये। उसके धन-जन की अनंत हानि हुई। जब वह रणथंभोर को न ले सका तब उसने अनीति और अन्याय को आश्रय देकर हम्मीर के एक सरदार रतिपाल को मिला लिया। रतिपाल ने भेद-भाव उत्पन्न करके दूसरे सरदार कृष्णमल्ल को भी अपने पक्ष में कर लिया। फल यह हुआ कि इन दोनों के विश्वासघात के कारण हम्मीर के रनिवास की महिलायें जल मरी और युद्ध करते-करते हम्मीर ने भी वीर-गति प्राप्त की। नयचंद्र ने लिखा है कि जब हम्मीर का शरीर शराघातों से जर्जर हो गया और उसे अपने जीने की आशा न रही तब उसने अपने ही खड्ग से अपना मस्तक काट डाला। उसने कहा, मैं जीते जी मुसलमानों की वश्यता स्वीकार न करूँगा और उनके स्पर्श से अपना कलेवर कलंकित न होने दूँगा—

> जीवन्तं ग्राहिषुर्मा क्वचिदपि यवना मामिति ध्यातबुद्धीः
> कण्ठं छित्त्वात्मनैव स्वमटति च दिवं स्मात्तसूरातिथित्वः

धन्य हम्मीर!

हम्मीर की शरणागतवत्सलता के विषय में कवि की निम्नोद्धृत उक्ति बड़ी ही करुणोत्पादक है—

> राधेयः कवचं ददौ शिबिरहो मांसं बलिर्मेदिनीं
> जीमूतोऽर्धवपुस्तथापि न समा हम्मीरदेवेन ते।

येनोच्चैः शरणागतस्य महिमासाहेर्निमित्तं त्वया-
दास्मा पुत्रकलत्रभृत्यनिवहो नीतः कथाशेषताम् ॥

परोपकारार्थ कर्ण ने अपना कवच, शिबि ने अपना मांस, बलि ने अपनी मेदिनी अर्थात् राज्य और जीमूतवाहन ने अपना आधा शरीर दे डाला। परंतु ये लोग, इस विषय में, हम्मीर की ज़रा भी बराबरी नहीं कर सकते। हम्मीर ने तो शरण में आये हुए महिमाशाह के कारण अपने राज्य ही से नहीं हाथ धो लिया; किंतु अपने प्राणों से, अपने पुत्र-कलत्रों से और अपने बंधुबांधवों तथा सेवकों से भी हाथ धो डाला—उन सभी को उसने नामःनिशेषता को पहुँचा दिया।

इसके बदले में महिमाशाह ने क्या किया, आप जानते हैं। हम्मीर के जब दो सरदार बाग़ी हो गये और उसे अन्य भी दुर्लक्षण दिखाई दिये तब उसने महिमाशाह से कहा कि आपत्ति से हम लोग इस समय घिर रहे है। उससे बचने के लिए आप जहाँ जाना चाहें ख़ुशी से जा सकते हैं। मैं वहीं आपको पहुँचा दूँगा। क्योंकि आप तो विदेशी हैं। आप क्यों, हम लोगों के साथ, अपने प्राण संकट में डालें ?

यूयं वैदेशिकास्तद्वः स्थातुं युक्तं न चापदि।
यियासा यत्र कुत्रापि ब्रूत तत्र नयामि यत् ॥

यह सुनकर मंगोल सरदार सन्नाटे में आ गया। वह अपने घर लौट आया। वहाँ अपनी स्त्री और बाल-बच्चों को अपने ही हाथ से मार कर हम्मीर के पास गया और बोला—

मैं रणथंभोर छोड़ कर सकुटुंब बाहर जाने के लिए तैयार हूँ। इस समय मेरी पत्नी की एक प्रार्थना आप स्वीकार कर लीजिए। उसका निवेदन है कि आपने हम लोगों को अभयदान देकर हमारी रक्षा ही नहीं की, इतने दिनों तक आपने हमें अपने आश्रय में

आराम से रक्खा भी है। अतएव आप हमारे अन्नदाता भी हैं। यहाँ से प्रस्थान करने के पहले मैं एक बार आपका दर्शन करना चाहती हूँ। अतएव क्षण भर के लिए आप मेरे घर पधारें।

हम्मीर तुरंत ही उसके घर गया। देखा तो महिमाशाह का सारा कुटुंब मरा हुआ पड़ा है। उनके शीश और कबंध रुधिर की धारा में तैर रहे हैं। यह दशा देखकर हम्मीर काँप उठा। वह फूट-फूट कर रोने लगा। महिमाशाह का दृढालिंगन करके उसने बहुत विलाप किया और उसके विषय में अनुचित संदेह करने के कारण अपने को बेहद धिक्कारा। अंत को जो गति महिमाशाह के कुटुंब की हुई थी वही हम्मीर के भी कुटुंब की हुई। हम्मीर की आज्ञा से उसकी भी रानियाँ आदि जल मरीं। तदनंतर लड़कर हम्मीर के पहले ही महिमाशाह ने वीर-गति पाई। इस काव्य का यह इतना अंश बहुत ही हृदयद्रावक और कारुण्य-रस का पोषक है। इसमें जहाँ नीचता और विश्वासघातकता के चित्र हैं तहाँ वीरता, उदारता, दीनवत्सलता और स्वामिभक्ति के भी कितने ही श्लाघनीय चित्र हैं।

हम्मीर-महाकाव्य में १४ सर्ग है। उनमें से पहले चार सर्गों में हम्मीर के पूर्वजों ही का विशेष वर्णन है। उनके नाम हैं—

१—तदीयपूर्वजवर्णन

२—भीमदेवप्रभृतिपूर्वजवर्णन

३—पृथ्वीराजसंग्रामवर्णन

४—हम्मीरजन्मवर्णन

चौथे में जन्म-वर्णन तो थोड़े ही में है; और बातें ही अधिक हैं। उसके आगे जो कुछ है वह इस काव्य को महाकाव्य बनाने ही के लिए लिखा गया है, यथा—

५—वसंतवर्णन

६—जलक्रीड़ावर्णन

७—सुरतवर्णन

आठवें सर्ग से काव्य के नायक हम्मीर का प्रकृत-वर्णन प्रारंभ हुआ है—

८—राज्यप्राप्तिवर्णन

९—दिग्विजयवर्णन

१०—में भोजदेव-संवाद, उलूगख़ाँ के साथ हम्मीर के युद्ध और अलाउद्दीन के कोप का वर्णन।

११—मुसलमानों की दूसरी चढ़ाई, हम्मीर की राजधानी, हम्मीर के भाषण और निसुरत्तख़ाँ (?) नामक मुसलमान-सेनापति के वध का वर्णन।

१२—अलाउद्दीन और हम्मीर के दो दिन के युद्ध का वर्णन।

१३—नर्तकी-गायन, वर्षाकाल, रतिपाल-शक-संवाद, रतिपाल-विज्ञप्ति, कन्या-देवलदेवी का संवाद और हम्मीर का स्वर्ग-गमन।

१४—हम्मीर की मृत्यु पर विलाप और नयचंद्रसूरि का आत्म-निवेदन।

इस महाकाव्य के पहले तीन सर्गों में कवि ने हम्मीर के पूर्वजों का जो वर्णन किया है उसमें कल्पना ही अधिक है, सत्यता का अंश बहुत ही कम। उसने हम्मीर-समेत ३८ चौहान-नरेशों का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ के नाम तो टाड के राजस्थान में मिलते हैं और कुछ के नहीं मिलते। प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक नयचंद्र ने उसके पहले के २९ नरेशों के नाम दिये हैं। परंतु उनके विषय में जो कुछ उसने कहा है उसका संबंध इतिहास से प्रायः नहीं के बराबर है। उसके उस वर्णन में उसने कवि-समय-सिद्ध आकाश-पाताल के कुलाबे मिला कर केवल अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। उसके इस प्रकार के वर्णन के नमूने ये हैं—

हम्मीर का पहला पूर्वज चाहमान (चौहान) इतना दानी था

कि उसके दानोत्पन्न यश ने बलि के यश को भी मलिन कर दिया। इसी से लज्जित हुआ बलि पाताल जाकर वहाँ छिप रहा है। उसके प्रताप की आग ने वैरियों के कीर्ति-वनों को इतना जलाया कि उससे उठा हुआ धुवाँ अब तक शांत नहीं हुआ। इसी से तो आसमान काला देख पड़ता है—

प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदी-
स्तथा द्विषां कीर्तिवनान्यधाक्षीत्।
तदुत्थधूमाश्रयतो जहाति
वियद्यथाऽद्यापि न कालिमानम्॥

पृथ्वीराज तक पहुँच जाने पर कवि को कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल गई है। अतएव अंत के छः-सात नरेशों के वर्णन में उसकी निर्दिष्ट बहुत सी बातें ऐसी हैं जो ऐतिहासिक कही जा सकती हैं। परंतु हम इसमें नयचंद्र का कोई बहुत बड़ा दोष नहीं समझते। वह चौहानों का इतिहास न लिखने बैठा था; वह तो हम्मीर का आधार लेकर महाकाव्य लिखने बैठा था। जो बातें या जो नाम उसे ऐतिहासिक मिले उनका उल्लेख उसने कर दिया है। अवशिष्ट कथा को उसने अपनी कल्पना और प्रतिभा के बल पर पूर्ण किया है। बलि, मांधाता, पुरूरवा आदि को जाने दीजिए; यदि तीन ही चार सौ वर्ष पूर्व हुए किसी राजा का आश्रय लेकर कोई महाकवि इस समय काव्य-रचना करे तो बताइए, इतिहास के महत्त्व का क़ायल होने पर भी, वह उसे कहाँ तक ऐतिहासिकता प्रदान कर सकेगा। अतएव नयचंद्र पर आक्षेप करते समय यह बात न भूलनी चाहिए कि उसने काव्य लिखा है, चौहानों या हम्मीर का इतिहास नहीं।

इस महाकाव्य के संपादक कीर्तने महाशय ने नयचंद्र की निंदा इस कारण की है कि उसकी कविता में कहीं-कहीं काठिन्य है,

अतिशयोक्ति है, अनुप्रास और यमक का आधिक्य है, तथा दो-दो अर्थ देनेवाली उक्तियों की बड़ी भरमार है। इस पर निवेदन यह है कि कीर्तने महाराज ने समय और स्थिति को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया। जिसे वे दोष समझते हैं उसे क्या तीन-चार सौ वर्ष पहले के पंडित और काव्यप्रेमी भी दोष समझते थे? जैसे दोषों की उन्हें शिकायत है वैसे दोष क्या नयचंद्र के पूर्ववर्ती सैकड़ों कवियों की कृतियों में, न्यूनाधिक मात्रा में, नहीं पाये जाते? ऐसी उक्तियाँ कहना जिनसे दो-दो तीन-तीन अर्थ निकलें, आजकल शायद दोष माना जाय; पर उस ज़माने में तो यही बात गुण में दाख़िल समझी जाती थी। नयचंद्र जैन था। काव्यारंभ में उसने जो मंगलाचरण के कई श्लोक लिखे हैं उनसे जैन-तीर्थंकरों और हिंदू-देवी-देवताओं के सूचक दो-दो अर्थों का निकलना नयचंद्र की प्रतिभा, उसकी कल्पना-शक्ति की श्रेष्ठता और उसकी व्याकरण-विज्ञता का द्योतक है।

हमारी राय में तो नयचंद्र की कविता में बहुत ही कम क्लिष्टता है। उसमें प्रसादगुण ही अधिक है। उसकी उक्तियाँ भी बहुधा हृदय-हारिणी हैं। और, यदि ये बातें न भी हों तो भी काव्य-प्रेमियों को इस काव्य के पाठ से आनंद की कुछ तो प्राप्ति अवश्य ही होती है। नयचंद्र ने ख़ुद ही लिखा है कि कालिदासादि महाकवि तक अपशब्द-दोष से नहीं बचे, फिर मैं मंदबुद्धि भला कैसे उससे बच सकता हूँ—

> प्रायोऽपशब्दादिकृतोऽपि दोषो
> नचात्र चिन्त्यो मम मन्दबुद्धेः
> न कालिदासादिभिरप्यपास्तो
> योऽध्वा कथं वा तमहं त्यजामि।

इस विषय में उसने कवियों से क्षमा भी बड़े अच्छे ढंग से माँगी

है। उसने उनसे प्रार्थना की है कि यदि मेरे काव्य में आपको अपशब्द-दोष मिलें तो कृपा करके उन पर ध्यान न दीजिएगा। सज्जनों को तो सु-शब्दों से आनंद मिलता है और दुर्जनों को अपशब्दों से। मैं दोनों ही को प्रसन्न रखना चाहता हूँ। यदि मेरे काव्य मे कोई दोष देख पडेगे तो मैं समझूँगा कि मैंने असज्जनो को भी आनंदित करने की सामग्री प्रस्तुत कर दी है—

क्षन्तव्य एव कविभिः कृपया प्रमादात्
काव्येऽत्र कश्चिदपि य पतितोऽपशब्द.
प्रीतिर्यथास्तु सुहृदामथवा सुशब्दैः
किं सा तथास्त्वसुहृदामपि माऽपशब्दैः ॥

नयचंद्र की जिह्वा पर उसके पूर्ववर्ती कवियों की कविता खूब चढी हुई थी। इससे उसके इस काव्य मे उन कवियों की उक्तियों की छाया बहुत जगह पाई जाती है। यथा—

(१) कृतारिषड्वर्गजयः स सिंह-
राजा हरेर्धाम जगाम नाम

× × ×

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपा पदवी प्रपित्सुना—किरात

(२) स्वप्नप्रसङ्गास्तदीयसङ्गा
बभूव का नो धृतकामरङ्गा

× × ×

तदात्मताध्यातधवा रते च का
चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्—नैपध

(३) देशानशेषान् जहि नागराणां
हरैणनेत्रा दह मंदिराणि

× × ×

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः

माघ

(४) सान्द्रितेऽम्बुनि किलललनानां
नेत्रकज्जलभरैर्हसितैश्च ।
गाङ्गवारिकलितां रविकन्यां
मेनिरे युवजनाः किमु धन्याम् ॥

× × ×

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां
प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि
गङ्गोर्म्मिसंसक्तजलेव भाति ॥

रघुवंश

इस महाकाव्य में सैकड़ों श्लोक बड़े ही सुंदर, सरस और चमत्कारपूर्ण हैं। उनके उदाहरण देने से यह लेख बढ़ जायगा। अतएव इसे हम यहीं समाप्त करते हैं।

जून, १९२४

साहित्य-महारथी

पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी

की

अन्य उत्तमोत्तम रचनाएँ

सुकवि-सकीर्तन

इसमें सुकवियों, कविता-प्रेमियों और कवि-कोविदों के आश्रय-दाताओं के संबंध में श्रीमान् द्विवेदीजी के लिखे हुए परिचयात्मक लेख हैं। आपकी ओजस्विनी लेखनी की सभी विशेषताएँ इन लेखों मे मौजूद हैं। सुंदर, सरल, सरस और प्रौढ गद्य का चमत्कार है। इन मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद लेखों मे जो बातें वर्णित हैं, वे कभी पुरानी नहीं हो सकतीं। इन्हें बार-बार पढ़ने पर भी जी नहीं ऊब सकता। इसे पढ़ने में एक उपदेशप्रद उपन्यास का-सा आनंद आता है। कहीं साहित्यिक लालित्य है, कही अगाध पांडित्य है, कहीं काव्य की कमनीय छटा है, बिलकुल नायाब चीज़ है। इसमें दस चित्र भी हैं। मूल्य १।), सुनहरी रेशमी जिल्द १॥।)

अद्भुत आलाप

इसमें ऐसे-ऐसे विचित्र कौतूहल-पूर्ण निबंध है कि शुरू करने पर विना समाप्त किए रहा नही जाता। इसकी लेखन-शैली का तो कहना ही क्या! विषय इतना रोचक है कि उपदेश के साथ-साथ ख़ासा मनोरंजन भी होता है। लखनऊ-विश्वविद्यालय मे, बी० ए० में, और सी० पी० में मैट्रिक मे यह पुस्तक पढ़ाई जाती है। मूल्य १), सुनहरी रेशमी जिल्द का १॥)

प्राचीन पंडित और कवि

इस पुस्तक में भवभूति, जोर्जिवराज, फ़ारसी-कवि हाफ़िज़, बौद्धाचार्य शीलभद्र, मधुरवाणी, सुखदेव मिश्र, हरिविजय-सूरि और आचार्य दिङ्नाग की रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से लिखे गए लेखों का संग्रह है। द्विवेदीजी की ओजस्विनी लेखनी की सभी विशेषताएँ इन लेखों में मौजूद हैं। इसमें सुंदर, सरल, सरस और प्रौढ़ गद्य का चमत्कार है। इन आलोचनात्मक लेखों में जो-जो खोज की बातें वर्णित हैं, वे साहित्य-जगत् के लिये बड़ी ही उपयोगी और नई हैं। इनको पढ़कर अनेक नई खोजों का पता लगता है। सभी निबंध साहित्यिक लालित्यों और अगाध पांडित्य से भरे हैं। इतनी सुंदर साहित्यिक पुस्तक का मूल्य ॥।=), सजिल्द १।=)

वेणीसंहार-नाटक

पांडवों के संग वन जाते समय द्रौपदी ने अपनी वेणी खोल दी थी। पुन राज्य-प्राप्ति पर ही उसे बाँधने की प्रतिज्ञा की थी। भीमसेन ने भी एक वार दुखित होकर द्रौपदी से कहा था कि अपनी गदा के प्रचंड आघातों से दुर्योधन की दोनो जंघाओं को तोड़कर खून से सने हुए अपने हाथों से तुम्हारे खुले हुए केश बाँधूँगा। वैसा ही हुआ भी। इसमें उसी का आख्यायिका-रूप में वर्णन है। इसकी भाषा अति सरल और सरस है। इसके पढ़ने से लोग महाभारत के युद्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओं से परिचित हो जायँगे। शिक्षा-विभाग से भी इनाम और पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है। मूल्य ॥=), सजिल्द १=)

वनिता-विलास

इसमे देशी और विदेशी स्त्रियों की शिक्षाप्रद और मनोरंजक जीवनियों का संग्रह है। द्विवेदीजी की भाषा आदि के संबंध में कुछ लिखने की आवश्यकता ही नहीं। प्रत्येक गृहिणी को इसे पढ़कर इससे शिक्षा लेनी चाहिए। मूल्य ॥)